मासिक समाचारपत्र • पूर्णांक 2 • वर्ष 1 • अंक 2 • दिसम्बर 2010 • पाँच रुपये • सोलह पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

2010 : घपलों-घोटालों का घटाटोप

भारतीय पूँजीवादी जनतन्त्र का भ्रष्ट-पतित-गन्दा-नंगा चेहरा

नेता, अफ़सर, जज, मीडियाकर्मी – लूटपाट, कमीशनख़ोरी में कोई पीछे नहीं

2010 के पूरे वर्ष में कश्मीर में युवा, बच्चे और स्त्रियाँ तक सड़कों पर सेना के विरुद्ध मोर्चा लेते रहे। महँगाई ने नये कीर्तिमान स्थापित किये। उबरने की लाख कोशिशों के बावजूद वैश्विक मन्दी से त्रस्त साम्राज्यवादी देश भारत की प्राकृतिक सम्पदा और श्रम सम्पदा को और अधिक निचोड़ने के मक़सद से पूँजी लगाने और माल बेचने के लिए सौदेबाज़ी और होड़ करते रहे। अमेरिकी राष्ट्रपति ओबामा लाव-लश्कर सहित आये और भारत को "उभर चुकी ताक़त" बता गये। फ़्रांसीसी राष्ट्रपति सरकोज़ी आये और छह ऐसे नये प्रकार के नाभिकीय रिएक्टर बेचने का सौदा कर गये जो अभी कहीं इस्तेमाल ही नहीं हुए हैं। प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह ने यूरोप की यात्रा की। यूरोपीय संघ के साथ व्यापार समझौते किये और जर्मन चांसलर से वार्ता की। भारतीय बाज़ार विदेशी लूट के लिए और अधिक मुक्त हो गया और साम्राज्यवादी लुटेरों की होड़ का लाभ उठाकर लूट में अपना हिस्सा बढ़ाने के लिए देशी लुटेरों ने भी हर सम्भव कोशिश की।

लेकिन सबसे अधिक जो चीज़ें चर्चा में रहीं और अख़बारों की सुर्ख़ियाँ बनीं, वे थीं – घपले-घोटाले और भ्रष्टाचार के नये-नये कीर्तिमान। रोज़-रोज़ हड्डियाँ गलाकर भी अपनी बुनियादी ज़रूरतें न पूरी कर पाने वाली आम मेहनतकश आबादी को घोटालों के रहस्योद्घाटनों से ज़्यादा आश्चर्य नहीं होता, क्योंकि इस व्यवस्था से उसे वास्तव में कोई उम्मीद नहीं है और इसे किसी सुधार के ज़रिये आदर्श बना देने को लेकर भी वह बहुत आशावादी नहीं है। **अपने अनुभव से आम मेहनतकश जानते हैं कि पूँजीवाद यदि भ्रष्टाचार-मुक्त भी हो तो मज़दूरों को शोषण-उत्पीड़न से मुक्ति नहीं मिल सकती। घपलों-घोटालों की सुर्ख़ियों पर सबसे अधिक चर्चा वह पढ़ा-लिखा, खाता-पीता मध्यवर्ग करता है, जो मीडिया के प्रचार से सम्मोहन की हद तक प्रभावित होकर सोचता है कि उदारीकरण की प्रगति से भारत बहुत तेज़ी से महाशक्ति बनता जा रहा है और यदि भ्रष्टाचार और काला धन समाप्त हो जाये तो देश की ख़ुशहाली सुनिश्चित है। मज़े की बात यह है कि मध्यवर्ग के यही लोग ख़ुद यदि भ्रष्टाचार का कोई अवसर मिले तो उसे क़तई नहीं छोड़ेंगे, पर उनकी चाहत होती है कि नेता, मन्त्री, अफ़सर आदि भ्रष्टाचार न करें। मध्यवर्गीय अभिजन समाज भ्रष्टाचार-मुक्त पूँजीवाद चाहता है। मज़दूरों के शोषण-उत्पीड़न से या श्रम-क़ानूनों के लागू नहीं होने से उसे ज़्यादा मतलब नहीं होता।** महँगाई और बेरोज़गारी की मार मध्यवर्ग के निचले हिस्सों का जब-जब जीना दूभर करते लगती है, तभी उन लोगों (यानी मध्यवर्ग के निचले हिस्से) का पूँजीवाद से मोहभंग शुरू होता है।

● सम्पादकीय अग्रलेख

बाबा रामदेव जैसे लोग और **'नॉक आउट'** जैसी फ़िल्में जब विदेशों में जमा काला धन वापस लाने और राजनीति को भ्रष्टाचार-मुक्त करने की बात करती हैं तो खाते-पीते सफ़ेदपोशों को ऐसी लोकलुभावन बातें बहुत अपील करती हैं। लेकिन, जैसा कि आगे हम तफ़सील से चर्चा करेंगे, इससे अधिक भ्रामक कोई और बात हो ही नहीं सकती।

(पेज 8 पर जारी)

अन्दर के पेजों पर

- दिल्ली में मज़दूर माँगपत्रक आन्दोलन की शुरुआत पेज – 3
- कैसा है यह लोकतन्त्र और यह संविधान किनकी सेवा करता है? पेज – 7
- अयोध्या फ़ैसला : मज़दूर वर्ग का नज़रिया पेज – 11
- एलाइड निप्पोन घटना : प्रबन्धन की गुण्डागर्दी की अनदेखी कर मज़दूरों पर एकतरफ़ा कार्रवाई पेज – 16

उँगलियाँ कटाकर मालिक की तिजोरी भर रहे हैं आई.ई.डी. के मज़दूर

पिछले 8 वर्षों में क़रीब तीन सौ मज़दूरों की उँगलियाँ कटीं
सीटू ने फिर किया मज़दूरों के साथ घिनौना विश्वासघात

बिगुल संवाददाता

नोएडा। यहाँ के लालकुँआ इलाक़े में सैमटेल व इण्टरनेशनल इलेक्ट्रो डिवाइसेज़ लिमिटेड नाम की दो कम्पनियाँ हैं। इनके मालिक कोड़ा बन्धु हैं। सुधीर कोड़ा बड़े भाई का नाम है और वह इण्टरनेशनल इलेक्ट्रो डिवाइसेज़ का मालिक है। सैमटेल कम्प्यूटर के मॉनीटर आदि बनाने का काम करती है और इलेक्ट्रो डिवाइसेज़ उसे पुर्ज़े आपूर्ति करती है। इण्टरनेशनल इलेक्ट्रो डिवाइसेज़ (आई.ई.डी.) और सैमटेल के कारख़ानों के तहत कोड़ा बन्धुओं ने भारी मात्रा में ज़मीन क़ब्ज़ा रखी है। इन दोनों कारख़ानों के क़रीब 5 गेट हैं और इनका बाहर से पूरा पैदल चक्कर लगाने में क़रीब 3 घण्टे लगते हैं। सूत्रों का कहना है कि इन दोनों भाइयों ने प्रशासन में बैठे लोगों को खिला-पिलाकर काफ़ी सरकारी और ग़ैर-सरकारी ज़मीन क़ब्ज़ा कर रखी है। कोड़ा बन्धु बड़ी-बड़ी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को आपूर्ति करने का काम करते हैं। कई बार अग्रणी अन्तरराष्ट्रीय कम्पनियों को भी ये मॉनीटर व अन्य इलेक्ट्रॉनिक उपकरण बेचते हैं। लेकिन वैश्विक असेम्बली लाइन की इस कड़ी के नीचे मज़दूरों की ज़िन्दगी का भयावह अँधेरा है।

आई.ई.डी. के कारख़ाने में मज़दूरों को अकथनीय परिस्थितियों में जान पर खेलकर काम करना पड़ता है। पिछले आठ वर्षों में करीब 300 मज़दूर अपने हाथों की उँगलियाँ कटवा चुके हैं। इस कारख़ाने में एक भारी यन्त्र है जिसका एक वज़नी हिस्सा काम के दौरान बार-बार नीचे आकर गिरता है। यह वही स्थान होता है, जहाँ मज़दूरों को बार-बार अपना हाथ ले जाना होता है। वैसे

(पेज 6 पर जारी)

अपनी कटी हुई उँगलियाँ दिखाता मज़दूर

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

सड़ी-गली पूँजीवादी खाद से पनप रही हैं ऐसी घटनाएँ, दोषी ठहराए जाते हैं मज़दूर

(पेज 16 से आगे)

कार्रवाई शुरू कर दी। इस घटना के बाबत जब 'मज़दूर बिगुल' अख़बार के संवाददाता और पीयूडीआर की टीम एस.एस.पी. से मिलने गयी और पूछा कि आपने एफ़.आई.आर. में कहीं भी हथियारों का ज़िक्र नहीं किया है। आख़िर क्यों? और एकतरफ़ा कार्रवाई मज़दूरों के ख़िलाफ़ ही क्यों की? इसका उनके पास कोई स्पष्ट जवाब नहीं था। इससे साफ़ ज़ाहिर होता है कि पुलिस विभाग किस तरह मालिक वर्ग की सेवा में मुस्तैद रहता है। पुलिस की ऐसी ही भूमिका ग्रेज़ियानो के मज़दूरों के साथ देखने को मिली थी। जिसमें 66 मज़दूरों को जेल में ठूँस दिया गया था। वैसे कभी सुनने में नहीं आता है कि पुलिस वहाँ 'सक्रिय' होकर दोषियों को सज़ा दिलाने का प्रयास करती हो। भोपाल गैस काण्ड, मेट्रो रेल दुर्घटना या कोरबा में चिमनी गिरने से हुई मज़दूरों की मौत के ज़िम्मेदार लोगों को आज तक क्या सज़ा दी गयी?

पुलिस आलाकमान यह ज़रूर कहते पाये गये कि अगर श्रम-विभाग समय रहते मज़दूरों की सुनवाई कर लेता तो ऐसी घटना से बचा जा सकता था। इस दौरान श्रम विभाग ने जो कुछ किया वह नया नहीं है। 'मज़दूर बिगुल' व पीयूडीआर के कार्यकर्ताओं से मिलने पर अपर श्रमायुक्त ने बड़ी बेशर्मी से यह माना कि वे लोग फ़ैक्ट्रियों में दौरा करना तो पिछले 8 सालों से लगभग छोड़ ही चुके हैं। और इस पर क्या कहा जाये पाठक स्वयं ही स्थिति का अन्दाज़ा लगा सकते हैं।

मज़दूरों को थकाने और क़ानूनी दाँवपेंच में उलझाने में लगी सीटू

यहाँ की यूनियन सीटू से जुड़ी हुई है। शुरू से ही मज़दूरों को वे यह समझाने में लगे थे कि धैर्य रखो सब ठीक हो जायेगा। मालूम हो कि साहिबाबाद में सीटू की अच्छी-ख़ासी पैठ रही है। जब मज़दूरों को अपराधी बताकर उनकी धर-पकड़ की जा रही थी, पुलिस घरों पर छापे मार रही थी, ऐसे में होना तो यह चाहिए था कि इस पुलिसिया कार्रवाई के ख़िलाफ़ इलाक़े की मज़दूर जमात को सड़क पर उतरने का आह्वान किया जाना और यही एक सही रास्ता बनता था। मज़दूरों पर जो बेवजह केस डाले जा रहे हैं, वे यह बताने के लिए हैं कि मज़दूर अपराधी हैं। जबकि सच्चाई तो यह है कि मालिक-प्रबन्धन के लगातार उत्पीड़न और शोषण के चलते यह घटना घटी। अक्सर होता यही है कि इस प्रकार की घटनाओं में मज़दूरों को दोषी क़रार दिया जाता है और उन पर तमाम मुक़दमे ठोंक दिये जाते हैं। हमारे सामने ग्रेज़ियानो के मज़दूरों का उदाहरण मौजूद है जिसमें मज़दूर आज भी दर-दर की ठोकरें खा रहे हैं। प्रतिरोधस्वरूप सीटू व अन्य फ़ेडरेशन इस दृश्यपटल पर सामने आते हैं तो महज़ ज्ञापन देने और काग़ज़ी खानापूर्ति करने तक सीमित रहते हैं। घटना के कई दिन बाद 25 नवम्बर को ज़िला क्लेक्ट्रेट पर हुए प्रदर्शन के दौरान उन्होंने एक बार फिर यही किया। जबकि इस प्रदर्शन में तमाम फ़ैक्टरियों और संगठनों के मज़दूर एकत्रित हुए थे, इस उम्मीद के साथ कि बेवजह जो मज़दूरों को फाँसा जा रहा है, इसके ख़िलाफ़ संघर्ष की कोई रणनीति बनेगी। लेकिन सीटू ने जो कुछ किया और कर रही है, वह एक तरीक़े से मज़दूरों को लगातार थकाने का काम है। जबकि मज़दूरों का मानना है कि जब तक हमारे साथी रिहा नहीं कर दिये जाते और हम पर लगाये गये फ़र्जी केस वापस नहीं ले लिये जाते तब तक हम काम पर नहीं जायेंगे। रिपोर्ट लिखे जाने तक सीटू इस कड़ी में आगे बढ़ाते हुए आन्दोलन की धार को तेज़ करने के बजाय कुन्द करने में लगी हुई है। अभी 6 दिसम्बर को श्रम विभाग को सौंपे गये ज्ञापन में और अधिक मज़दूरों को शामिल करने के बजाय महज़ स्थायी मज़दूरों तक सीमित कर दिया। सोचने लायक बात है कि तमाम ताक़त होने के बावजूद सीटू मज़दूरों को सड़क पर उतारने से डर क्यों रही है? उल्टे सीटू मज़दूरों की ताक़त को तोड़ने का प्रयास कर रही है। वृन्दा करात ने ग़ाज़ियाबाद प्रशासन को दिये गये अपने ज्ञापन में सिर्फ़ उन दो मज़दूरों को छुड़ाने की माँग की है, जो पहले से सीटू से जुड़े हुए हैं, बाक़ी छह मज़दूरों की सीटू को कोई परवाह नहीं है। मालिकों और प्रबन्धन की अँधेरगर्दी पर भी पूरी ताक़त होने के बावजूद सीटू मज़दूरों को लेकर सड़क पर उतरने और प्रशासन को न्यायपूर्ण कार्रवाई करने पर मजबूर क्यों नहीं कर रही है? जब पीपुल्स यूनियन फ़ॉर डेमोक्रेटिक राइट्स के कार्यकर्ताओं ने सीटू से इस मामले की जानकारी और ज्ञापनों की प्रतिलिपि माँगी तो उन्होंने मना कर दिया। जब बिगुल मज़दूर दस्ता के साथी मज़दूरों से मिल रहे थे और उन्हें आगे के संघर्ष के बारे में बता रहे थे, तो सीटू ने ज़बरन उन मज़दूरों को वहाँ से हटा दिया। जब बिगुल मज़दूर दस्ता के कार्यकर्ताओं को मज़दूरों ने सीटू कार्यालय पर होने वाली बैठक में आमन्त्रित किया और अपनी बात रखने का आग्रह किया तो सीटू के नौकरशाहों ने इन कार्यकर्ताओं को सीटू के कार्यालय में प्रवेश नहीं करने दिया। इससे साफ़ ज़ाहिर होता है कि सीटू अन्दर ही अन्दर मालिकान और प्रबन्धन को बचाने में लगा हुआ है। उसका मक़सद मज़दूरों को न्याय दिलाना नहीं बल्कि कोई ऐसा समझौता कराना है जिसमें मज़दूरों की हार ही होगी। और फ़िलहाल ऐसा होता ही नज़र आ रहा है। हर बार की तरह सीटू आन्दोलन को लम्बा खींचकर मज़दूरों के हौसले और हिम्मत को तोड़ देना चाहती है। आन्दोलन को व्यापक दायरे में फैलाने के बजाय महज़ रस्मी क़वायदों तक सीमित करने का प्रयास कर रही है। मज़दूरों के सामने भी कोई ठोस विकल्प न होने के चलते वे इन झाँसेबाज़ों की गिरफ़्त में फँसे हैं।

वास्तविकता यह है कि साहिबाबाद की इस फ़ैक्टरी में हुई यह घटना कभी भी और कहीं भी हो सकती है। उदारीकरण-निजीकरण के इस दौर में जब लगातार मज़दूरों के अधिकार सीमित किये जा रहे हैं तथा फ़ैक्टरियों में श्रम क़ानूनों का कोई मतलब नहीं रह गया है; ऐसे में मज़दूर साथियों को यह सोचना होगा कि इन अर्थवादी दलाल ट्रेड यूनियनों के झाँसे से निकलकर ही वे अपने संघर्ष को मुक़ाम तक पहुँचा सकते हैं।

आज के दौर में किसी एक फ़ैक्टरी के मज़दूर अकेले-अकेले बहुत दूर तक अपनी लड़ाई नहीं लड़ सकते। हमें अपने इलाक़े के मज़दूरों को गोलबन्द करने की दिशा में आगे बढ़ना होगा। मज़दूरों को सीटू, एटक और इण्टक जैसे मज़दूर वर्ग के ग़द्दारों से छुटकारा पाना होगा और अपनी क्रान्तिकारी ट्रेड यूनियन खड़ी करनी होगी। जब तक ऐसा नहीं होता, तब तक मज़दूरों को इस क़ानूनी विभ्रम को अपने दिमाग़ से निकाल देना होगा कि पंजीकृत फ़ेडरेशन के बिना कोई मज़दूर संघर्ष हो ही नहीं सकता। हाल के कुछ अनुभव (दिल्ली के बादाम मज़दूरों का संघर्ष, लुधियाना के टेक्सटाइल मज़दूरों का संघर्ष और गोरखपुर के बरगदवाँ के कारख़ानों के मज़दूरों का संघर्ष) साफ़तौर पर दिखलाते हैं कि मज़दूरों ने ऐसे किसी फ़ेडरेशन के बिना अपनी एकजुटता और फौलादी संगठन के बूते अपनी माँगें मनवायी हैं। साहिबाबाद के मज़दूर साथियों को भी अपने संघर्ष को दलालों के हाथों से निकालकर अपने हाथ में लेना होगा।

लक्ष्मी नगर हादसा : पूँजीवादी मशीनरी...

(पेज 3 से आगे)

को ग़रीब परिवारों को किराये पर रहने के लिए दे दिया जाता है। दूसरी तरफ़ हम देखते हैं दिल्ली और आस-पास के राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र में बड़े-बड़े अपार्टमेण्ट बहुत ही सुनियोजित रूप से उच्च मध्यवर्ग और धनाढ्य वर्ग के लिए बनाये जा रहे हैं। विलासिता की इन मीनारों में लक्ष्मी नगर जैसी घटना नहीं हो सकती। सोचने की बात यह है कि दिल्ली की बहुसंख्यक आबादी जो इन अनधिकृत कालोनियों में रह रही है, लगातार मौत के साये में जी रही है।

इस हादसे के बाद दिल्ली नगर निगम ने ललिता पार्क इलाक़े में ऐसी ही कई असुरक्षित इमारतों को सील कर दिया है। लेकिन क्या यह समस्या का निवारण है? दिल्ली का इतिहास बताता है कि जिस रफ़्तार से पहले से बनी अनधिकृत कालोनियों को नियमित किया गया है या फिर ऐसी कालोनियों को गिरा दिया गया है, उससे भी तेज़ी से नयी अवैध कालोनियाँ अस्तित्व में आयी हैं। जब खुद व्यवस्था ही अवैध निर्माण को संरक्षण और प्रोत्साहन दे रही है तो इस पर रोक लगाना इसके बूते की बात ही नहीं। वास्तव में दिल्ली टुटपुँजिया पूँजीपतियों का शहर है। यह वर्ग यहाँ पर सत्ता के बहुत बड़े अवलम्ब का काम करता है। अमृतपाल जैसे लोग कांग्रेस और भाजपा दोनों के लिए ही बेहद क़ीमती हैं। इस वर्ग पर किसी भी क़िस्म से नकेल कसने का न तो पूँजीवादी चुनावी पार्टियों का इरादा है और न ही उनकी सरकार के लिए यह सम्भव है। सच्चाई तो यह है कि इन पार्टियों के स्थानीय छुटभैये नेता स्वयं इसी वर्ग से आते हैं। ऐसे में, यह उम्मीद करना व्यर्थ है कि दिल्ली सरकार इस तरह की दुर्घटनाओं को रोकने के लिए कुछ भी करेगी। तब तक दिल्ली की सारी चमक-दमक को खड़ा करने वाला वर्ग अगर इमारत के ढहने पर मौत के मुँह में जाने से बच भी गया तो इन ख़तरनाक इमारतों की खोलियों में घुट-घुटकर दम तोड़ता रहेगा।

● शिवानी

घोषणापत्र का प्रपत्र : प्रपत्र 4
(नियम 8 के अन्तर्गत)

समाचार पत्र का नाम	मज़दूर बिगुल
पत्र की भाषा	हिन्दी
आवर्तिता	मासिक
पत्र का खुदरा बिक्री मूल्य	तीन रुपये
प्रकाशक का नाम	कात्यायनी सिन्हा
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006
प्रकाशन का स्थान	निशातगंज, लखनऊ
मुद्रक का नाम	कात्यायनी सिन्हा
पता	69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ
मुद्रणालय का नाम	मल्टीमीडियम, 310, संजयगांधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ-226016
सम्पादक का नाम	सुखविन्दर
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज लखनऊ-226006
स्वामी का नाम	कात्यायनी सिन्हा
राष्ट्रीयता	भारतीय

मैं कात्यायनी सिन्हा, यह घोषणा करती हूँ कि उपर्युक्त तथ्य मेरी अधिकतम जानकारी के अनुसार सत्य हैं।

हस्ताक्षर
(कात्यायनी)
प्रकाशक, मुद्रक, स्वामी

मज़दूर बिगुल का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच लगातार राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनबाज़ों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

मज़दूर बिगुल 'जनचेतना' की सभी शाखाओं पर उपलब्ध है :

- डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020 फोन : 0522 2786782
- जनचेतना स्टाल, काफ़ी हाउस बिल्डिंग, हज़रतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8 बजे)
- जाफ़रा बाज़ार, गोरखपुर-273001
- जनचेतना, दिल्ली – फ़ोन : 09213639072
- जनचेतना, लुधियाना – फोन : 09815587807

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006
फ़ोन : 0522-2335237
दिल्ली सम्पर्क : बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-94
ईमेल : bigul@rediffmail.com
मूल्य : एक प्रति – रु. 3/- इस अंक का मूल्य रु.5 वार्षिक – रु. 40.00 (डाक ख़र्च सहित)

दिल्ली में मज़दूर माँग-पत्रक आन्दोलन–2011 की शुरुआत

श्रमिक अधिकारों के प्रति मज़दूरों को जागरूक करने के लिए प्रचार से आगाज़

बिगुल संवाददाता

दिल्ली। राजधानी के औद्योगिक इलाक़ों करावल नगर, झिलमिल, बादली सहित अन्य मज़दूर बस्तियों में मज़दूर माँगपत्रक आन्दोलन–2011 चलाया जा रहा है। मज़दूर माँगपत्रक आन्दोलन के कार्यकर्ता मज़दूर बस्तियों में नुक्कड़ सभाएँ, पर्चा वितरण करते हुए श्रमिक अधिकारों के प्रति मज़दूरों में जागरूकता फैलाने का काम कर रहे हैं।

इस आन्दोलन का मक़सद देश की व्यापक मज़दूर आबादी के पक्ष में श्रम क़ानूनों को लागू करवाना, पुराने श्रम क़ानूनों का संशोधन और नये श्रम क़ानूनों का निर्माण है। भारत सरकार वैसे तो मज़दूरों के लिए तमाम क़ानूनी अधिकार देने की बात करती है, लेकिन व्यवहार में लागू कितने होते हैं, यह सभी जानते हैं। इस 26 सूत्रीय माँगपत्रक आन्दोलन में भारत के करोड़ों-करोड़ मज़दूरों की तरफ़ से ऐसे श्रम-क़ानूनों को बनाने की भी माँग है जिनके लिए क़ानूनी-अधिकार या तो हैं ही नहीं या फिर अपर्याप्त हैं। मालूम हो कि देश की 60 करोड़ मज़दूर जमात में से क़रीब 70 फ़ीसदी मज़दूर आबादी ठेका, दिहाड़ी तथा पीस रेट पर काम करती है। इस असंगठित मज़दूर आबादी के लिए न तो काम के घण्टे तय हैं और न ही उन्हें न्यूनतम मज़दूरी मिलती है। साप्ताहिक छुट्टी या ओवरटाइम का डबल रेट से भुगतान आदि क़ानूनी हक़ों का इन कार्य-क्षेत्रों में कोई मायने नहीं है।

ख़ुद करावलनगर इलाक़े की बात करें तो यहाँ क़रीब 2500 छोटे-बड़े उद्योग हैं, जिनमें हज़ारों की संख्या में मज़दूर काम करते हैं। उनके लिए न तो कोई मज़दूर पहचान कार्ड है, न हाज़िरी कार्ड; निरन्तर दुर्घटनाएँ होना यहाँ आम बात है जिनका शिकार इनमें काम करने वाले मज़दूर होते रहते हैं। उसके लिए न तो उन्हें कारख़ाना अधिनियम के तहत कोई मुआवज़ा मिलता है और न ही उनके पास कोई वैधानिक पहचान होती है, जिसके ज़रिये वे आगे की कोई क़ानूनी कार्रवाई कर सकें। इनके अलावा यहाँ 'बादाम प्रसंस्करण उद्योग' सरीखे तमाम वर्कशॉप हैं, जो न तो पंजीकृत हैं और न ही किसी प्रकार के श्रम क़ानूनों का पालन करते हैं। यह हाल देश के बहुलांश इलाक़ों की मज़दूर आबादी का है।

ऐसे में मज़दूर माँगपत्रक आन्दोलन की शुरुआत बेहद ज़रूरी और समयोचित है, जिसके ज़रिये हम मौजूदा पूँजीवादी मशीनरी की पक्षधरता को और स्पष्टता से मेहनतकश अवाम के सामने रख सकते हैं।

झिलमिल, करावलनगर, बादली आदि औद्योगिक क्षेत्रों में अभियान

करावलनगर, झिलमिल तथा बादली आदि मज़दूर बस्तियों में मज़दूर कार्यकर्ताओं की टोलियों द्वारा नुक्कड़ सभाएँ करते हुए 'अब चलो नयी शुरुआत करो, मज़दूर मुक्ति की बात करो' नामक पर्चे का वितरण किया जा रहा है। जिसमें कहा गया है कि "पूँजी का आकाश चूमता महल मज़दूरों को निचोड़कर बनाया जाता है, उनके अकथ दुखों-तक़लीफ़ों के सागर में खड़ा किया जाता है। मज़दूर यदि निचुड़कर हड्डियों का कंकालभर रह जाये तो पूँजीपति उन हड्डियों का भी पाउडर पीसकर बाज़ार में बेच देगा। इसलिए हमारा कहना है कि मज़दूर वर्ग के पास लड़ने के सिवा और कोई रास्ता नहीं है। आज अगर हम लड़ेंगे नहीं तो आने वाली पीढ़ियाँ इतिहास में दफ़न हमारी हड्डियों को खोदकर बाहर निकालेंगी और कहेंगी – 'देखो ये उन गुलामों की हड्डियाँ हैं, जिन्होंने अपनी गुलामी के ख़िलाफ़ बग़ावत नहीं की।'"

माँगपत्रक आन्दोलन–2011 का मक़सद देश के ज़्यादा से ज़्यादा मज़दूरों को यह बताना है कि आज किन माँगों पर मज़दूर आन्दोलन नये सिरे से संगठित होगा और कहाँ से शुरुआत करके यह क़दम-ब-क़दम अपनी मंज़िल की ओर आगे बढ़ेगा।

इस आन्दोलन के प्रारम्भिक चरण में प्रचारात्मक गतिविधियों के तहत श्रम-क़ानूनों सम्बन्धी नारों और माँगों को दीवारों, तख़्तियों, पोस्टरों, बैनरों और पर्चों के द्वारा लोगों के क़रीब ले जाने की शुरुआत की गयी। उसके बाद मज़दूर लॉजों व डेरों में तथा कमरा-कमरा बैठक करके माँगपत्रक की प्रासंगिकता पर चर्चा करते हुए इस आन्दोलन से मज़दूर आबादी को जोड़ने का काम शुरू कर दिया गया है। साथ ही मज़दूर साथियों के हस्ताक्षर जुटाने का काम भी जारी है। योजना यह है कि आने वाली एक मई (125वाँ मज़दूर दिवस) को दिल्ली स्थित देश की संसद के सामने मज़दूरों का एक विशाल प्रदर्शन किया जाये और इसीके साथ लाखों मज़दूरों के हस्ताक्षर सहित इस माँगपत्रक को भारत सरकार को सौंपा जाये। इस आन्दोलन के लिए मज़दूर साथियों से आर्थिक सहयोग भी जुटाया जा रहा है, जिससे यह आन्दोलन विधिवत ढंग से चलाया जा सके। एक मई तक चलने वाले इस आन्दोलन के प्रथम चरण के अन्तर्गत मज़दूर माँगपत्रक कमेटी बनाने की भी योजना है, जिससे मज़दूर वर्ग का यह आन्दोलन ज़्यादा विस्तार और आम माँग का रूप ले सके। 'दुनिया के सबसे बड़े लोकतन्त्र' का 'महान संविधान' जो जनवाद और समानता का भोंपू बजाता है, उसकी पक्षधरता इस आन्दोलन से साफ़तौर पर स्पष्ट हो जायेगी तथा जिन मज़दूर साथियों को यह लगता है कि इस व्यवस्था के रहते हुए उनका कुछ भला हो सकता है, उनका भी भ्रम दूर हो जायेगा।

लक्ष्मीनगर हादसा

पूँजीवादी मशीनरी की बलि चढ़े ग़रीब मज़दूर

मुनाफ़ा! हर हाल में! हर क़ीमत पर! मानव जीवन की क़ीमत पर। नैतिकता की क़ीमत पर। नियमों और क़ानूनों की क़ीमत पर। यही मूल मन्त्र है इस मुनाफ़ाख़ोर आदमख़ोर व्यवस्था के जीवित रहने का। इसलिए अपने आपको ज़िन्दा बचाये रखने के लिए यह व्यवस्था रोज़ बेगुनाह लोगों और मासूम बच्चों की बलि चढ़ाती है। इस बार इसने निशाना बनाया पूर्वी दिल्ली के लक्ष्मीनगर के ललिता पार्क स्थित उस पाँच मंज़िला इमारत में रहने वाले ग़रीब मज़दूर परिवारों को जो देश के अलग-अलग हिस्सों से काम की तलाश में दिल्ली आये थे। इमारत के गिरने से लगभग 70 लोगों की मौत हो गयी और 120 से अधिक लोग घायल हो गये जिनमें कई महिलाएँ और बच्चे भी शामिल हैं। यह घटना शायद दिल्ली के इतिहास की सबसे बड़ी मानव-निर्मित त्रासदियों (या यूँ कहें कि व्यवस्था-निर्मित, क्योंकि यह कहना ज़्यादा उपयुक्त होगा) में से एक थी। स्वयं दिल्ली की मुख्यमन्त्री शीला दीक्षित ने इसे अभूतपूर्व करार दिया और कहा कि दिल्ली में ऐसी घटना इसके पहले कभी नहीं हुई। जैसा कि आमतौर पर ऐसे सभी 'हादसों' के बाद होता है, इस बार भी तमाम सरकारी महक़मों और नागरिक संस्थाओं के बीच आरोप-प्रत्यारोपों का घिनौना खेल शुरू हो गया। कांग्रेस और भाजपा एक-दूसरे को बेनक़ाब करने के पीछे पड़ गयीं। लेकिन जिस हमाम में सबके-सब नंगे हों वहाँ कौन ज़्यादा नंगा है और कौन कम नंगा इस पर बहस करना ही बेमानी है। ज्ञात हो कि जो इमारत गिरी वह अनधिकृत थी और इसलिए एक बार फिर दिल्ली में अनधिकृत निर्माण के अवैध कारोबार का मुद्दा चर्चा में आ गया। हालाँकि, दिल्ली सरकार, दिल्ली नगर निगम और पुलिस प्रशासन ऐसा जता रहे हैं, मानो कि अनधिकृत-अवैध निर्माण का मसला कोई नयी बात है।

दिल्ली में लक्ष्मी नगर इकलौता ऐसा इलाक़ा नहीं है, जहाँ अनधिकृत इमारतें और कालोनियाँ बनी हैं। क़ायदे से तो दिल्ली का कोई ऐसा इलाक़ा नहीं बचा है जहाँ अवैध निर्माण न हुआ हो। लक्ष्मी नगर, शकरपुर, पाण्डव नगर, पूर्वी और पश्चिमी विनोद नगर, मण्डावली, मधु विहार से लेकर नरेला, बवाना और बुराड़ी तक कोई ऐसा इलाक़ा नहीं जहाँ अवैध इमारतों का निर्माण न हुआ हो। सूत्रों की मानें तो दिल्ली का क़रीब 60 प्रतिशत इलाक़ा अवैध निर्माण से भरा हुआ है जिसमें दिल्ली की 80 प्रतिशत आबादी रहती है। दिल्ली नगर निगम के मुताबिक़ 1962 से 1977 के बीच 567 अनधिकृत कालोनियों को नियमित कर दिया गया। इसके अलावा, 1639 अनधिकृत कालोनियों का नियमितीकरण होना अभी बाक़ी है। यही नहीं, आये दिन नये अनधिकृत निर्माण बड़े पैमाने पर हो रहे हैं। लगभग हर रोज़ ही दिल्ली सरकार से लेकर नगर निगम के अधिकारियों के बयान आते हैं कि अब कोई अनधिकृत कालोनी बसने नहीं दी जायेगी, लेकिन हम सब जानते हैं कि यह सिलसिला बदस्तूर जारी है। ये वे कालोनियाँ होती हैं, जहाँ घर तो पहले बन जाते हैं लेकिन नागरिक सुविधाओं की व्यवस्था बाद में होती है। ज़ाहिर है कि इतने बड़े पैमाने पर इस क़िस्म की कालोनियों का निर्माण काफ़ी संगठित तरीक़े से प्रशासन की देख-रेख और संरक्षण में ही हो सकता है। जो काम ही सरकार, पुलिस, नगर निगम, भूमाफ़िया और बिल्डरों की मिलीभगत से हो रहा हो उस पर नकेल कसना असम्भव ही है। और न ही ऐसी किसी की गरज़ है।

लक्ष्मी नगर हादसे के बाद आनन-फानन में दिल्ली सरकार ने घटना की न्यायिक जाँच के आदेश दे दिये। इसमें भी कोई नयी बात नहीं है। ऐसी दुर्घटनाओं के बाद ख़ानापूर्ति और अपनी बची-खुची इज़्ज़त बचाने के लिए सरकार को इतना तो करना ही था। अब विपक्ष इस बात के पीछे पड़ गया है कि इसकी सी.बी.आई. जाँच हो। अब चाहे न्यायिक जाँच हो या सी.बी.आई. जाँच, इसके बाद क्या होगा, यह हम सब अच्छी तरह जानते हैं। फ़िलहाल, इमारत के मालिक अमृत सिंह को पुलिस ने गिरफ़्तार कर लिया है। इन जनाब की कहानी भी काफ़ी दिलचस्प है। जो इस व्यवस्था की सड़ान्ध और ग़लाज़त को बख़ूबी दर्शाती है। इस चर्चा पर हम जल्द ही लौटेंगे।

हादसा जिस इमारत के साथ हुआ, वह काफ़ी पुरानी थी। केवल ढाई सौ वर्ग गज़ की ज़मीन में 50 से भी ज़्यादा कमरे बने थे, जिनमें 300 से भी ज़्यादा लोग रह रहे थे। इमारत के सबसे निचले तल में आइसक्रीम का कारख़ाना भी चल रहा था। मानसून के समय इस पूरे इलाक़े में यमुना का पानी घुसने से इमारत की नींव कमज़ोर हो गयी थी। इमारत के भूतल में हादसा होने तक पानी जमा था। कई बार ध्यान दिलाने के बावजूद मकान-मालिक ने वहाँ से पानी निकालना ज़रूरी नहीं समझा। यही नहीं, यमुना की तलहटी पर बने इस इलाक़े में, जहाँ 15 मीटर से ऊँची इमारतें बनाना क़ानूनन जुर्म है वहाँ यह मकान-मालिक हर साल इमारत में एक नयी मंज़िल जोड़ता चला जा रहा था। ऐसी बेहद ख़तरनाक स्थितियों के बावजूद यहाँ रहने वाले मज़दूर परिवार लगभग 3000 रुपये महीना किराया देते थे। जहाँ तक इस इमारत के मकान मालिक अमृतपाल सिंह का सवाल है, तो वह इस देश के टुटपुँजिया पूँजीपति वर्ग का प्रतीकात्मक उदाहरण है। अमृत सिंह के आपराधिक इतिहास को देखते हुए उसे जेल के अन्दर होना चाहिए था। लेकिन फिर इस हिसाब से तो इस वर्ग के ज़्यादातर लोगों को सलाख़ों के पीछे होना चाहिए। परचून की दुकान से अपने धन्धे की शुरुआत करने वाले अमृत सिंह ने अवैध शराब के धन्धे से लेकर मिलावटी सीमेण्ट बेचने का धन्धा करते हुए चोरी और लूट का सामान ख़रीदकर फिर बेचने के धन्धे तक, सब क़िस्म के काले धन्धों पर अपना हाथ आज़माया है। वह शकरपुर थाने में हिस्ट्रीशीटर के रूप में दर्ज है। हत्या, हत्या के प्रयास, लूटपाट, डकैती – ऐसे सभी मामले उस पर दर्ज हैं। तो फिर वह बाहर क्या कर रहा था? बताने की ज़रूरत नहीं है कि उसके अवैध मकान की जानकारी भी स्थानीय पुलिस और निगम अधिकारियों को थी।

इस सन्दर्भ में जो बात ग़ौर करने लायक है, वह यह है कि **मीडिया अमृतपाल जैसे व्यक्ति के इस मामले से जुड़े होने को एक असामान्य घटना के रूप में पेश कर रहा है। लेकिन इसमें असामान्य और असाधारण कुछ भी नहीं है। अमृतपाल उस टुटपुँजिया परजीवी वर्ग के एक प्रतिनिधि के रूप में उभरा है जो इस क़िस्म के गोरखधन्धे और काले कारनामे करके ऊपर पहुँचते हैं। वह अकेला ऐसा शख़्स नहीं है। यह पूरा परजीवी वर्ग ग़रीबों की लाशों पर पैसा कमाता है और मुनाफ़ा बटोरता है। लक्ष्मी नगर जैसी घटना देश के दूर-दराज़ के इलाक़ों से दिल्ली में काम करने आये मज़दूर परिवारों के साथ ही होती है। वसन्त विहार, वसन्त कुंज, चाणक्यपुरी, अशोक विहार, शालीमार बाग जैसे इलाक़ों में रहने वाले लोगों के साथ नहीं।**

दुर्घटनाओं का भी वर्ग चरित्र होता है। ज़्यादातर अनधिकृत इमारतें जिन्हें ख़ुद दिल्ली नगर निगम रिहायश की दृष्टि से ख़तरनाक बता चुका है, मज़दूर और निम्न मध्यम वर्गीय आबादी के रिहायशी इलाक़े हैं। ये इलाक़े अमृतपाल सिंह सरीखे मालिकों और छुटभैये बिल्डरों द्वारा प्रशासन से साँठ-गाँठ के ज़रिये ही बसाये गये हैं। निर्माण-कार्य में निम्न स्तरीय सामग्री का प्रयोग करके बेहद कम लागत में कार्य सम्पन्न कर दिया जाता है। फिर इन्हीं निम्नस्तरीय मकानों और कमरों

(पेज 2 पर जारी)

माँगपत्रक शिक्षणमाला – 2

कार्य-दिवस का प्रश्न मज़दूर वर्ग के लिए एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक प्रश्न है, महज़ आर्थिक नहीं

हमारा तात्कालिक नारा : 8 घण्टे के कार्य-दिवस के क़ानून को लागू करो!
दूरगामी संघर्ष का नारा है : काम के घण्टे 6 करो!

पिछले अंक में हमने 'माँगपत्रक आन्दोलन–2011' की शुरुआत के साथ 'मज़दूर बिगुल' में इस आन्दोलन का परिचय देने के साथ माँगपत्रक शिक्षणमाला की शुरुआत की थी। इस शिक्षणमाला का लक्ष्य है मज़दूर साथियों को माँगपत्रक आन्दोलन की माँगों के इतिहास और महत्त्व से वाक़िफ़ कराना। इन सभी माँगों में निस्सन्देह आठ घण्टे के कार्य-दिवस की माँग सबसे महत्त्वपूर्ण है। यही कारण है कि माँगपत्रक–2011 की पहली माँग काम के घण्टों से जुड़ी हुई है। लेनिन ने भी सन् 1900 में ख़ारकोव के मई दिवस के आयोजन पर लिखा था : "इन माँगों में सबसे पहली माँग होगी आठ घण्टे के कार्य-दिवस की आम माँग, जो सभी देशों के सर्वहारा वर्ग ने की है। इस माँग का सबसे पहले रखा जाना ख़ारकोव के मज़दूरों की अन्तरराष्ट्रीय समाजवादी मज़दूर आन्दोलन के साथ एकजुटता के अहसास को दर्शाता है और निश्चित रूप से इसीलिए इस माँग को छोटी-मोटी आर्थिक माँगों, जैसे – फ़ोरमैन द्वारा अच्छे बर्ताव की माँग या तनख़्वाह में दस फ़ीसदी की बढ़ोत्तरी की माँग, से नहीं मिलाया जाना चाहिए। आठ घण्टे के कार्य-दिवस की माँग पूरे सर्वहारा वर्ग की माँग है और सर्वहारा उसे एक-एक मालिक के सामने नहीं बल्कि सरकार के सामने रखता है, क्योंकि ये ही आज के सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था के प्रतिनिधि हैं। सर्वहारा वर्ग यह माँग समूचे पूँजीपति वर्ग के सामने रखता है, जो सभी उत्पादन के साधनों का मालिक है।" लेनिन का यह कथन आठ घण्टे के कार्य-दिवस की माँग के व्यापक और राजनीतिक चरित्र को स्पष्ट कर देता है। लेकिन इस माँग के महत्त्व को पूरी तरह समझने के लिए हमें संक्षेप में इसके इतिहास और राजनीतिक अहमियत को जानना होगा। **निश्चित रूप से आज यह माँग इसलिए भी महत्त्वपूर्ण बन जाती है, क्योंकि हम जानते हैं कि आठ घण्टे के कार्य-दिवस का क़ानून मौजूद होने के बावजूद हमारे देश और तमाम देशों में इस क़ानून की रोज़ धज्जियाँ उड़ायी जाती हैं और कहीं भी यह क़ानून लागू नहीं होता। इसलिए इसमें कोई दो राय नहीं हो सकती कि आज की तात्कालिक लड़ाई इस क़ानून को लागू करवाने की है।** लेकिन इस पूरी लड़ाई का दीर्घकालिक और ऐतिहासिक महत्त्व है जिसे समझना मज़दूर वर्ग के लिए अनिवार्य है।

"आठ घण्टे काम!
आठ घण्टे आराम!
आठ घण्टे मनोरंजन!"

कार्य-दिवस की लम्बाई को लेकर मज़दूर वर्ग की लड़ाई का इतिहास पुराना है। इस माँग के उठने के इतिहास की शुरुआत हम 19वीं सदी के शुरुआती दशकों से देख सकते हैं। यही वह समय था, जब पूरे यूरोप और अमेरिका में औद्योगिक क्रान्ति ज़ोर पकड़ रही थी। गाँवों से उजड़कर खेतिहर मज़दूर शहरों की तरफ़ पलायन कर रहे थे। शहरों में बड़े पैमाने पर कारख़ाने लग रहे थे और ये भूतपूर्व खेतिहर मज़दूर इन्हीं कारख़ानों में अमानवीय स्थितियों में काम कर रहे थे। हमें उस समय के इतिहास से पता चलता है कि ब्रिटेन और अमेरिका में लग रहे कारख़ानों में कई बार मज़दूर 18 से 20 घण्टे तक भी काम कर रहे थे। वे कारख़ाने में ही काम करते, फिर वहीं सो जाते, और फिर उठकर वहीं काम करने लगते। उनके जीवन का अर्थ महज़ पूँजीपतियों के लिए मुनाफ़ा पैदा करना ही रह गया था। चूँकि बड़े पैमाने पर गाँवों से शहरों की तरफ़ श्रमिकों का आगमन हो रहा था, इसलिए पूँजीपतियों के पास बेरोज़गारों की एक बड़ी सेना तैयार खड़ी थी। यही कारण था कि कारख़ानों में काम करने वाले मज़दूर इन अमानवीय कार्य-स्थितियों के ख़िलाफ़ लड़ नहीं पाते थे। दूसरी बात यह कि खेतों में अमानवीय स्थितियों में खटने और उसके बाद भुखमरी झेलकर आये श्रमिकों की राजनीतिक चेतना का स्तर भी ऐसा न था कि वे शुरुआत से ही अपने अधिकारों को लेकर लड़ते। लेकिन पूँजीवादी औद्योगिक उत्पादन-प्रणाली ने जल्द ही ऐसी स्थितियाँ और चेतना पैदा कर दी जिसने मज़दूर वर्ग के पहले आन्दोलनों को जन्म दिया। जिस पहले आन्दोलन के बारे में हम सुनते हैं, वह था 1810 के दशक के उत्तरार्द्ध में फ़िलाडेल्फ़िया, अमेरिका के मोचियों का आन्दोलन। इस आन्दोलन में काम के घण्टे को 10 करने की माँग की गयी थी। इसके बाद 1825 में न्यूयॉर्क के निर्माण व गोदी मज़दूरों ने एक ज़बरदस्त आन्दोलन किया जिसमें उन्होंने 10 घण्टे के कार्य-दिवस की माँग को दोहराया। इंग्लैण्ड के चार्टिस्ट आन्दोलन ने भी कार्य-दिवस की लम्बाई के सवाल को पूरे ज़ोर के साथ उठाया। यह माँग जहाँ कहीं भी पहली बार उठी, वहीं इसने मज़दूर वर्ग के भीतर फ़ौरन जड़ें जमा लीं। कार्य-दिवस का प्रश्न जल्दी ही पूरे विश्व के अलग-अलग देशों के मज़दूर आन्दोलनों के लिए केन्द्रीय प्रश्न बन गया। न जाने इस माँग में ऐसा क्या था जिसके कारण हर देश, हर वर्ग और हर जाति का मज़दूर इसे फ़ौरन अपना लेता था। इसके कारणों की चर्चा हम अगले उपशीर्षक में करेंगे।

जहाँ तक उपलब्ध स्रोत बताते हैं, आठ घण्टे के कार्य-दिवस की माँग की बात सबसे पहले इंग्लैण्ड के काल्पनिक समाजवादी रॉबर्ट ओवेन ने की थी। इसके बाद अलग-अलग समय में अलग-अलग जगहों पर इस माँग को मज़दूर आन्दोलन ने अपना लिया। जल्द ही मज़दूर आन्दोलन का यह केन्द्रीय नारा बन गया – "आठ घण्टे काम, आठ घण्टे आराम, आठ घण्टे मनोरंजन"। इस माँग को लेकर जगह-जगह छोटे-बड़े आन्दोलन तो लम्बे समय तक होते रहे, लेकिन इसको लेकर सबसे महान और प्रसिद्ध आन्दोलन हुआ 1886 में शिकागो में। इस आन्दोलन ने ही मई दिवस की अन्तरराष्ट्रीय मज़दूर परम्परा को जन्म दिया जिसे आज भी दुनियाभर के मज़दूर शान से मनाते हैं। 1886 में शिकागो के मज़दूरों ने आठ घण्टे के कार्य-दिवस को अपनी केन्द्रीय माँग के तौर पर रखते हुए एक ज़बरदस्त आन्दोलन खड़ा किया। इस आन्दोलन में हर व्यवसाय और पेशे में काम करने वाले मज़दूर शामिल हुए। शुरुआत में इसके प्रति ट्रेड यूनियनों का रुख़ ढीला था; नतीजतन, मज़दूरों ने ट्रेड यूनियन नेतृत्व से अलग जाते हुए इस आन्दोलन को आगे बढ़ाया। इस आन्दोलन ने शिकागो के पूँजीपतियों को हिलाकर रख दिया। शिकागो के पूँजीपतियों ने इस आन्दोलन को दबाने के लिए अपनी पूरी ताक़त झोंक डाली। इसमें अमेरिकी पूँजीपतियों की सरकार ने इनकी पूरी मदद की। 3 मई 1886 के दिन मज़दूरों पर पुलिस ने गोलियाँ चलायीं, जिसमें 6 मज़दूर मारे गये। इसके बाद 4 मई को इस दमन के ख़िलाफ़ मज़दूरों का जनसैलाब फिर से सड़कों पर उतरा। इस बार भी पुलिस ने भीड़ पर हमला किया। इसी बीच भीड़ में एक बम फेंका गया जिसमें चार मज़दूर और सात पुलिसवाले मारे गये। इसके बाद बम फेंकने का आरोप लगाकर चार मज़दूर नेताओं – पार्सन्स, फ़िशर, स्पाइस और एंजेल को गिरफ़्तार कर लिया गया और बाद में फ़र्जी मुक़दमा चलाकर उन्हें मृत्युदण्ड दे दिया गया। ये चारों मज़दूर नेता तब से मज़दूर वर्ग के अमर नायक बन गये और आज भी दुनियाभर का मज़दूर वर्ग उन्हें याद करता है। 1886 में मज़दूर आन्दोलन के दमन के बाद 1890 के मई दिवस को अन्तरराष्ट्रीय हड़ताल के रूप में मनाया गया। अमेरिका और यूरोप के ही नहीं बल्कि इस हड़ताल में एशिया की औपनिवेशिक दुनिया के नवजात औद्योगिक शहरों के मज़दूर भी शामिल हुए। अब तक दुनियाभर के पूँजीपति वर्ग को समझ आ चुका था कि मज़दूरों की इस माँग को अब और दबाया नहीं जा सकता। इसके बाद, आठ घण्टे के कार्य-दिवस का क़ानून बनाने का काम दुनिया के विभिन्न देशों में शुरू हुआ और आज कम-से-कम काग़ज़ पर यह क़ानून हर जगह मौजूद है। यह बात अलग है कि 1970 में नवउदारवादी नीतियों की शुरुआत के बाद, जिस प्रकार मज़दूर वर्ग से उसके तमाम अधिकारों को छीना जा रहा है, वैसे ही आठ घण्टे के काम के अधिकार को भी व्यवहार में छीन लिया गया है। काग़ज़ पर यह क़ानून आज भी मौजूद है, लेकिन दुनियाभर के 90 फ़ीसदी अनौपचारिक मज़दूरों के लिए यह क़ानून कोई मायने नहीं रखता है। उन्हें हमेशा 10 से 12 और कई बार 14 घण्टे तक काम करना पड़ता है। आठ घण्टे के कार्य-दिवस का हक़ आज स्थायी मज़दूरों के एक छोटे-से हिस्से को ही मिला हुआ है। इसीलिए आज आठ घण्टे के कार्य-दिवस के क़ानून को लागू करवाने के लिए सरकार और उसकी पूरी मशीनरी को मज़दूर शक्ति के बल पर मजबूर करना सर्वप्रमुख तात्कालिक ज़रूरत है।

मज़दूर वर्ग कार्य-दिवस की लम्बाई की माँग समूचे पूँजीपति वर्ग के सामने रखता है

कार्य-दिवस की माँग मज़दूर आन्दोलन की सबसे पुरानी राजनीतिक माँग है

कार्य-दिवस का प्रश्न केन्द्रीय प्रश्न क्यों है?

पूँजीवादी समाज में पूँजीपति वर्ग क्या चाहता है? पूँजीपति वर्ग हर क़ीमत पर अपने मुनाफ़े को बढ़ाना चाहता है। यह पूरी व्यवस्था ही निजी मालिकाने और निजी मुनाफ़े पर टिकी व्यवस्था है। इसमें समस्त उत्पादन का स्वामित्व मुट्ठीभर पूँजीपतियों के वर्ग के हाथों में होता है, जबकि विशाल मज़दूर आबादी कल-कारख़ानों से लेकर खेतो-खलिहानों में दिनों-रात खटती है। मेहनतकशों की इस मेहनत के बूते ही पूँजीपति का पूरा मुनाफ़ा पैदा होता है। इस पूरे तन्त्र में पूँजीपति का काम मालिकाने के क़रार पर दस्तख़त करने से ज़्यादा और कुछ नहीं होता। लेकिन यह व्यवस्था कोई सहज और सुचारू रूप से चलने वाली व्यवस्था नहीं होती। पूँजीवाद का नियम है प्रतिस्पर्द्धा। पूँजीपति वर्ग प्रतिस्पर्द्धा द्वारा विकास के सिद्धान्त को मानता है और बाज़ार में अधिक से अधिक मुनाफ़े के लिए प्रतिस्पर्द्धा में उतरता है। इस प्रतिस्पर्द्धा में बड़ी मछली छोटी मछली को निगलती है और इसलिए हर पूँजीपति के लिए अपने मुनाफ़े के मार्जिन को अधिकतम बनाना जीवन-मृत्यु का प्रश्न होता है। ख़ुद प्रतिस्पर्द्धा में उतरने वाला पूँजीपति वर्ग मज़दूरों की भी भारी आबादी को बेरोज़गारों की फ़ौज में खड़ा कर रोज़गार के लिए प्रतिस्पर्द्धा करने के लिए बाध्य कर देता है। लेकिन आपसी प्रतिस्पर्द्धा के बावजूद मज़दूरों के प्रतिरोध के समक्ष सभी पूँजीपति फ़ौरन एकजुट हो जाते हैं। बहरहाल, इस प्रतिस्पर्द्धा के कारण हर पूँजीपति के ऊपर मुनाफ़े को अधिक से अधिक बढ़ाने का ज़बर्दस्त दबाव होता है। अगर वह ऐसा नहीं करेगा तो बाज़ार में कोई न कोई उसे निगल जायेगा।

मुनाफ़े की हवस पूँजीपति को हर सम्भव तरीक़ा अपनाने को विवश करती है। **मुनाफ़े का मूल होता है मज़दूरों के श्रम द्वारा पैदा होने वाला मूल्य, जिसे हम बेशी मूल्य कहते हैं। यह बेशी मूल्य यदि नहीं बढ़ेगा तो कुल मुनाफ़े में कोई वृद्धि नहीं हो सकती। और अधिकांश मामलों में अलग-अलग कारख़ानों में भी मुनाफ़े में वृद्धि के लिए बेशी मूल्य को बढ़ाना मुनाफ़ा बढ़ाने की पूर्वशर्त होता है।** मज़दूर कच्चे माल और उपकरणों-यन्त्रों का मेल अपने श्रम से करता है। यह श्रम ही बेकार अनुपयोगी सामग्रियों को मानव उपयोग लायक बनाता है। इसके कारण ही यह माल बिक भी पाता है। इस उपयोग मूल्य के बिना बाज़ार में वह माल बिकेगा ही नहीं यानी उसका कोई विनिमय मूल्य नहीं होगा। साफ़ है कि मज़दूर की मेहनत ही माटी में मोल पैदा करती है। यह मोल कच्चे माल और उपकरणों पर हुए ख़र्च और साथ ही मज़दूरी पर हुए ख़र्च के कुल योग से भी ज़्यादा होता है। उत्पादित माल के मूल्य और कुल निवेश के बीच के फ़र्क़ को ही बेशी मूल्य कहते हैं। **लेकिन मज़दूर के श्रम का उत्पाद होने के बावजूद यह बेशी मूल्य मज़दूरों के हाथ नहीं आता, बल्कि पूँजीपति इसे हड़प जाता है। यही पूँजीपति के समृद्ध होते जाने और मज़दूरों के दरिद्र होते जाने का मूल कारण होता है। हम देख सकते हैं कि पूँजीपति के पूरे मुनाफ़े का मूल मज़दूर द्वारा अपनी मेहनत के ज़रिये पैदा किया गया यह बेशी मूल्य ही है। यानी कि अगर पूँजीपति को अपना मुनाफ़ा या अपने पूँजी संचय को बढ़ाना है तो उसे मज़दूर से अधिक से अधिक बेशी मूल्य निचोड़ना होगा।** बहुत से साथियों को यह चर्चा ग़ैर-ज़रूरी लग सकती है। लेकिन हर मज़दूर को कार्य-दिवस का सवाल अहम क्यों लगता है, इसे समझने के लिए यह चर्चा ज़रूरी थी। अब मूल मुद्दे पर वापस आते हैं।

चूँकि पूँजीपति के सारे मुनाफ़े का मूल बेशी मूल्य है, इसलिए वह हर

(पेज 5 पर जारी)

कार्य-दिवस का प्रश्न मज़दूर वर्ग के लिए एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक प्रश्न है

(पेज 4 से आगे)

क़ीमत पर मज़दूर से अधिक से अधिक बेशी मूल्य का उत्पादन करवाना चाहता है। इसके दो तरीक़े हैं।

मार्क्स पहले तरीक़े को बेशी मूल्य के उत्पादन की दर को बढ़ाने का सापेक्षिक तरीक़ा बताते हैं। इस तरीक़े में श्रमकाल यानी कार्य के घण्टों को तो नहीं बढ़ाया जाता, लेकिन तकनोलॉजी व यन्त्रों के ज़रिये श्रम की उत्पादकता को बढ़ा दिया जाता है। श्रम की उत्पादकता बढ़ने से बेशी मूल्य के पैदा होने की रफ़्तार बढ़ जाती है क्योंकि कुल उत्पादन की ही गति बढ़ जाती है। **ऐसे मौक़ों पर कई बार पूँजीपति बिना कार्य-दिवस की लम्बाई बढ़ाये, मज़दूरी में भी मामूली-सी बढ़ोत्तरी कर देते हैं। मज़दूर को लगता है कि उसका मालिक बड़ा दरियादिल है। लेकिन वास्तविकता तो यह है कि उसने मज़दूर की उत्पादकता को बढ़ाकर उतने ही घण्टों में उससे कहीं ज़्यादा मुनाफ़ा कमा लिया है। और इसके बदले में उसके वेतन में नाममात्र की वृद्धि कर दी है।** यह एक चालाक तरीक़ा है जिसके ज़रिये पूँजीपति समय-समय पर यन्त्रों और तकनोलॉजी में निवेश करके अपने मुनाफ़े को बढ़ाता है।

दूसरा तरीक़ा अधिक नग्न है और पूँजीपति आज के समय में इसका जमकर इस्तेमाल करते हैं। इसे बेशी मूल्य के उत्पादन की दर बढ़ाने का निरपेक्ष तरीक़ा कहा जाता है। इसमें पूँजीपति सीधे काम के घण्टे बढ़ाकर श्रम को और सघन कर देता है। श्रमकाल बढ़ने के कारण कुल उत्पादन और बेशी मूल्य की दर में बढ़ोत्तरी होती है और पूँजीपति का मुनाफ़ा बढ़ता है। तकनोलॉजी और यन्त्रों को और उन्नत बनाना हमेशा सम्भव नहीं होता है। ऐसे में पूँजीपति बेशी मूल्य को बढ़ाने का निरपेक्ष तरीक़ा अपनाते हैं। अक्सर पूँजीपति मुनाफ़े की गिरती दर के कारण इन दोनों ही तरीक़ों का इस्तेमाल करते हैं। यह दूसरा तरीक़ा ही वह तरीक़ा है जिसके कारण पूँजीपति हमेशा मज़दूर के काम के घण्टे को बढ़ाने का प्रयास करता है।

इसलिए काम के घण्टे को सीमित रखने और इसके लिए क़ानूनी सीमा तय करने की लड़ाई वास्तव में पूँजीपति के मुनाफ़ा बढ़ाने के प्रयासों पर एक चोट होती है। मन्दी के दौर में पूँजीपति वर्ग के विरुद्ध आठ घण्टे के कार्य-दिवस की लड़ाई वास्तव में पूरी पूँजीवादी व्यवस्था के लिए एक संकट पैदा करती है क्योंकि यह पूँजीपति वर्ग के लिए मुनाफ़े को बढ़ाने के प्रयासों को मुश्किल बनाती जाती है। वास्तव में, आज की वैश्विक मन्दी के दौर में, बल्कि 1970 के दशक से सतत जारी संकट के दौर में दुनियाभर का पूँजीपति वर्ग मज़दूरों के कार्य-दिवस के अधिकार को छीनने की कोशिश कर रहा है और ख़ासतौर पर 'तीसरी दुनिया' के देशों में वह काफ़ी हद तक कामयाब भी हुआ है। आज एशिया, अफ़्रीका और लातिन अमेरिका के देशों में बिरले ही ऐसे कारख़ाने मिलते हैं जिनमें 8 घण्टे के कार्य-दिवस के क़ानून का पालन होता है। काग़ज़ी तौर पर तो आठ घण्टे के कार्य-दिवस का क़ानून मौजूद है लेकिन इसका कहीं भी पालन नहीं होता।

इन्हीं कारणों से मज़दूर वर्ग के लिए पूँजीवादी व्यवस्था के रहते कार्य-दिवस की लम्बाई का प्रश्न हमेशा महत्त्वपूर्ण बना रहेगा। और यही कारण है कि 'माँगपत्रक आन्दोलन–2011' में आठ घण्टे के कार्य-दिवस को लागू करने को तात्कालिक संघर्ष का सबसे अहम मुद्दा माना गया है। यही कारण है कि मार्क्स के नेतृत्व में इण्टरनेशनल वर्किंगमेंस एसोसिएशन ने 1866 में यह संकल्प लिया था : "कार्य-दिवस की क़ानूनी सीमा वह प्राथमिक पूर्वस्थिति है जिसके बिना मज़दूर वर्ग की बेहतरी और मुक्ति के अन्य सभी प्रयास असफल सिद्ध होंगे...यह कांग्रेस कार्य-दिवस के लिए आठ घण्टे की क़ानूनी सीमा का प्रस्ताव करती है।" मार्क्स ने बताया कि यह माँग ऐसी माँग है जिसकी अनुगूँज दुनिया के हर मज़दूर में हमें सुनायी देगी। उन्होंने 'पूँजी' के प्रथम खण्ड में लिखा है : "जब तक दासप्रथा गणराज्य के एक हिस्से पर कलंक के समान चिपकी रही, तब तक अमेरिका में कोई भी स्वतन्त्र मज़दूर आन्दोलन पंगु बना रहा। सफ़ेद चमड़ी वाला मज़दूर कभी भी स्वयं को मुक्त नहीं कर सकता जब तक कि काली चमड़ी वाले मज़दूरों को अलग करके देखा जायेगा। लेकिन दासप्रथा की समाप्ति के साथ ही एक नये ओजस्वी जीवन के अंकुर फूटे। 'काम के घण्टे आठ करो' आन्दोलन के साथ ही वहाँ गृह-युद्ध का श्रीगणेश हुआ। 'काम के घण्टे आठ करो' आन्दोलन एक ऐसा आन्दोलन था जो तेज़ी के साथ अटलाण्टिक से हिन्द तक, न्यू इंग्लैण्ड से कैलिफ़ोर्निया तक फैल गया।" एंगेल्स ने बताया था कि यह माँग अपने आप में मज़दूर वर्ग को दुनिया के वर्ग-विभेदों को ख़त्म करने की लड़ाई की तरफ़ भी ले जायेगी। यह पूरी दुनिया के मज़दूरों को एक झण्डे तले गोलबन्द करने की ताक़त रखता है। 1890 में कम्युनिस्ट घोषणापत्र के चौथे जर्मन संस्करण की प्रस्तावना में उन्होंने लिखा : "जब मैं ये पंक्तियाँ लिख रहा हूँ, यूरोप और अमेरिका का सर्वहारा अपनी शक्तियों की समीक्षा कर रहा है, यह पहला मौक़ा है जब सर्वहारा वर्ग एक झण्डे तले, एक तात्कालिक लक्ष्य के वास्ते, एक सेना के रूप में, गोलबन्द हुआ है : आठ घण्टे के कार्य-दिवस को क़ानून द्वारा स्थापित कराने के लिए...। यह शानदार दृश्य जो हम देख रहे हैं, वह पूरी दुनिया के पूँजीपतियों, भूस्वामियों को यह बात अच्छी तरह समझा देगा कि पूरी दुनिया के सर्वहारा वास्तव में एक हैं।" निश्चित रूप से, आज भी जब मई दिवस के मज़दूर प्रदर्शन दुनिया के हर हिस्से में होते हैं तो वह पूँजीपति वर्ग के लिए असुविधा का सबब होते हैं। यह मज़दूर वर्ग की अन्तरराष्ट्रीय एकता का प्रतीक है। और इसका मूल कार्य-दिवस को आठ घण्टे का बनाने का संघर्ष ही है। लेनिन ने भी तमाम जगहों पर इस माँग के राजनीतिक चरित्र को बार-बार स्पष्ट किया है और बताया है कि यह पुराने समय से मज़दूर वर्ग की प्रमुख तात्कालिक माँग रही है।

काम के घण्टे छह करो!

जी हाँ! आपने ग़लत नहीं पढ़ा है! आपने सही पढ़ा – छह! काम के घण्टे छह करो! यह आज मज़दूर वर्ग की कार्य-दिवस सम्बन्धी दूरगामी माँग है। जब दुनियाभर के मज़दूरों ने पूँजीपति वर्ग से इनसानों जैसे जीवन की माँग करते हुए आठ घण्टे के कार्य-दिवस का क़ानून बनाने की माँग की थी, उस समय से श्रम की उत्पादकता में कई सौ प्रतिशत की वृद्धि हो चुकी है। इसके लिए आँकड़ों से पन्ने रँगने की कोई आवश्यकता नहीं है। हर मज़दूर अच्छी तरह से जानता है कि जब लगभग 180 वर्ष पहले पहली बार मज़दूरों ने आठ घण्टे के कार्य-दिवस की माँग की थी, और जब सवा सौ साल पहले पहली बार मज़दूरों ने एकजुट होकर इसके लिए एक शानदार आन्दोलन किया था और जब लगभग सौ साल पहले आठ घण्टे के कार्य-दिवस के क़ानूनों का विभिन्न देशों में निर्माण शुरू हुआ था, तब से अब तक उत्पादकता में ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ आ चुका है। आज दुनियाभर के मज़दूरों को प्रतिदिन छह घण्टे से अधिक कार्य करने की कोई आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। **वास्तव में, यह छह घण्टे की माँग भी कोई बहुत आगे बढ़ी हुई माँग नहीं है। इसे सबसे नरम माँग कहा जा सकता है। वरना इससे कम में भी दुनिया का काम आसानी से चल सकता है! आज की लड़ाई तो यह है कि पहले आठ घण्टे के कार्य-दिवस के क़ानून को ही लागू करवाया जाये क्योंकि इस क़ानून को कहीं भी लागू नहीं किया जाता।** लेकिन मज़दूरों की लड़ाई यहीं ख़त्म नहीं हो जाती है। हमें इस लड़ाई को लड़ते हुए पूँजीवादी सत्ता में बैठे लोगों के दिमाग़ में यह बात पैठा देनी होगी कि हमारी माँग छह घण्टे के कार्य-दिवस की है और इसे हम हर क़ीमत पर लेकर रहेंगे।

मज़दूर वर्ग का एक बड़ा हिस्सा अपनी राजनीतिक चेतना की कमी के चलते इस माँग को ज़रूरत से ज़्यादा माँगना समझ सकता है। लेकिन हमें यह बात समझनी होगी कि मानव चेतना और सभ्यता के आगे जाने के साथ हर मनुष्य को यह अधिकार मिलना चाहिए कि वह भी भौतिक उत्पादन के अतिरिक्त सांस्कृतिक, बौद्धिक उत्पादन और राजनीति में भाग ले सके; उसे मनोरंजन और परिवार के साथ वक़्त बिताने का मौक़ा मिलना चाहिए। दरअसल, यह हमारा मानवाधिकार है। लेकिन लम्बे समय तक पूँजीपति वर्ग ने हमें पाशविक स्थितियों में रहने को मजबूर किया है और हमारा अस्तित्व महज़ पाशविक कार्य करने तक सीमित होकर रह गया है, जैसे कि भोजन करना, प्रजनन करना, आदि। लेकिन मानव होने का अर्थ क्या सिर्फ़ यही है? हम जो दुनिया के हरेक सामान को बनाते हैं, यह अच्छी तरह से जानते हैं कि दुनिया आज हमारी मेहनत के बूते कहाँ पहुँच चुकी है। लेकिन हम अपनी ही मेहनत के इन शानदार फलों का उपभोग नहीं कर सकते। ऐसे में अगर हम इन पर हक़ की माँग करते हैं तो इसमें नाजायज़ क्या है? इसलिए हमें इनसान के तौर पर ज़िन्दगी जीने के अपने अधिकार को समझना होगा। हम सिर्फ़ पूँजीपतियों के लिए मुनाफ़ा पैदा करने, जानवरों की तरह जीने और फिर जानवरों की तरह मर जाने के लिए नहीं पैदा हुए हैं। जब हम यह समझ जायेंगे तो जान जायेंगे कि हम कुछ अधिक नहीं माँग रहे हैं। इसलिए हमारी दूरगामी माँग है – 'काम के घण्टे छह करो!' और हम छह घण्टे के कार्य-दिवस का क़ानून बनाने के लिए संघर्ष करेंगे। हमें शुरुआत आठ घण्टे के कार्य-दिवस के क़ानून को लागू करवाने के संघर्ष से करनी होगी और फिर छह घण्टे के कार्य-दिवस के क़ानून को बनवाने के संघर्ष तक जाना होगा। अगर हम देश के पैमाने पर इन माँगों के लिए मज़दूर वर्ग को संगठित कर पाये तो पूँजीपतियों की चाकरी करने वाली इस सत्ता-व्यवस्था को ऐसा क़ानून बनाने के लिए निश्चित ही मजबूर कर सकते हैं।

●

कैसा है यह लोकतन्त्र और यह संविधान किनकी सेवा करता है?

(पेज 7 से आगे)

हस्तान्तरित की दी जाये। कांग्रेसी, लीगी और सिख नेताओं ने उसे तत्काल स्वीकार कर लिया। उसी महीने में हुए अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के अधिवेशन ने इस योजना को 61 के मुक़ाबले 157 मतों से स्वीकार कर लिया। इस योजना के आधार पर 'इण्डिया इण्डिपेण्डेण्ट एक्ट' बना, जिसकी ब्रिटिश संसद और सम्राट ने 18 जुलाई को पुष्टि कर दी। 15 अगस्त को इसे लागू कर दिया गया।

माउण्टबेटन योजना के अनुरूप बंगाल और पंजाब की विधायिकाएँ क्रमशः 20 और 23 जून को ही विभाजन का प्रस्ताव पारित कर चुकी थीं। इसके तुरन्त बाद सिन्ध और बलूचिस्तान ने पाकिस्तान में शामिल होने का निर्णय लिया। लीग द्वारा पाकिस्तान में मिलाने का प्रस्ताव विफल करने के लिए ख़ान अब्दुल ग़फ़्फ़ार ख़ान के नेतृत्व में उत्तर-पश्चिम सीमा प्रान्त की कांग्रेस कमेटी ने स्वतन्त्र पख़्तूनिस्तान की माँग की। तत्कालीन विधायिका में कांग्रेसी बहुमत था और उसने भी संविधान सभी में शामिल होने के पक्ष में प्रस्ताव पारित किया था। इसके बावजूद उस प्रान्त पर भारत-पाकिस्तान में से एक को चुनने के लिए जनमत संग्रह थोप दिया गया। यह जनमत संग्रह भी सार्विक मताधिकार के आधार पर नहीं होना था। उत्तर-पश्चिम सीमा प्रान्त की कांग्रेस ने इसका बहिष्कार किया और कुल 50.99 प्रतिशत मतों से (यानी वयस्क आबादी के 9.52 प्रतिशत मत द्वारा) इस प्रान्त को पाकिस्तान में मिला दिया गया। यह वहाँ की आबादी के साथ कांग्रेसी नेतृत्व का विश्वासघात ही था। जून '47 के बाद महज़ डेढ़ महीने के भीतर, भारतीय भू-राजनीतिक परिस्थितियों से पूरी तरह से अपरिचित अंग्रेज़ वकील रैडक्लिफ़ के नेतृत्व में गठित दो आयोगों ने पूरब और पश्चिम में भारत और पाकिस्तान के बीच सीमारेखा खींचने का काम किया। कई इलाक़ों को लेकर हिन्दू, सिख और मुसलमान आबादी में असन्तोष था, लेकिन लीग और कांग्रेस सत्ता के लिए बेचैन थे, इसलिए इस मुद्दे पर छिटपुट असन्तोष और विरोध से आगे बात नहीं बढ़ी।

15 अगस्त 1947 को मिली खण्डित और रक्तरंजित राजनीतिक स्वाधीनता ने देश की जनता में हर्ष-विषाद के मिले-जुले भाव उत्पन्न किये। लोग आधी रात को भारत की "नियति के साथ क़रार" पर नेहरू के भाषण को सुनकर भावुक भी हो रहे थे, दूसरी ओर देश की परिस्थितियों को लेकर विषाद और आशंका के भाव भी थे। जनता के सुदीर्घ संघर्षों ने औपनिवेशिक गुलामी के दिनों को पीछे धकेल दिया था और इतिहास ने आगे डग भरा था। लेकिन राष्ट्रीय आन्दोलन के बुर्जुआ नेतृत्व का विश्वासघात और समझौतापरस्ती भी एक वास्तविकता थी, जिसे 1947 में तो कम लोगों ने समझा था लेकिन दो दशक बीतते-बीतते भारतीय पूँजीवादी लोकतन्त्र का चेहरा बहुसंख्यक आबादी के सामने नंगा हो चुका था।

गाँधी सक्रिय नेतृत्व की मुख्यधारा से किनारे कर दिये गये थे। उनके बुर्जुआ मानवतावादी यूटोपिया की अब भारतीय पूँजीपति वर्ग को कोई ज़रूरत नहीं थी। आज़ादी मिलते समय उनके पास "देने के लिए कोई सन्देश" नहीं था और समारोहों से अलग बैठे वे उपवास और प्रार्थना कर रहे थे। वे केवल विभाजन और साम्प्रदायिक दंगों से ही नहीं बल्कि स्वतन्त्र भारत के नये राजनीतिक तन्त्र से भी व्यथित थे। अपनी हत्या से पहले उन्होंने कांग्रेस में बढ़ते भ्रष्टाचार और लोकतान्त्रिक मूल्यों के पतन के प्रति क्षोभ व्यक्त करते हुए उसे भंग करके लोक सेवक संघ की स्थापना का सुझाव दिया था और यह भी कहा था कि भारत के गाँवों के लिए सामाजिक-आर्थिक आज़ादी पाना अभी बाक़ी है। वे ब्रिटिश नौकरशाही और शासन प्रणाली की निरन्तरता से भी असन्तुष्ट थे, लेकिन भारतीय बुर्जुआ वर्ग और नेहरू-पटेल यह भली-भाँति जानते थे कि केन्द्रीकृत मज़बूत प्रशासन ही उनकी ज़रूरत है।

सन् 1947 उपमहाद्वीप के इतिहास के सबसे बड़े साम्प्रदायिक ख़ून-ख़राबे और विस्थापन का गवाह बना। क़रीब दस लाख लोगों की जानें गयीं, एक करोड़ के आसपास घायल हुए, 75 हज़ार से भी अधिक स्त्रियाँ बलात्कार की शिकार हुईं, और एक करोड़ से भी अधिक लोग विस्थापित होकर शरणार्थी शिविरों में दिन बिताने को मजबूर हुए। बुर्जुआ वर्ग ने सत्ता हासिल करने का जो रास्ता चुना, उसकी क़ीमत उपमहाद्वीप की जनता ने इस रूप में चुकायी। उसी भयावह अतीत की निरन्तरता भारत-पाकिस्तान के भीतर तीन बड़े युद्धों और कई छोटी-मोटी लड़ाइयों के रूप में तथा भारत में साम्प्रदायिक दंगों, साम्प्रदायिकता की राजनीति और धार्मिक कट्टरपन्थ के रूप में हमें 1947 के बाद से लेकर अब तक देखने को मिलती रही है।

(अगले अंक में : 1946-50 का संक्रमण काल, क्रमिक पूँजीवादी विकास की आम दिशा का निर्धारण और संविधान की निर्माण-प्रक्रिया)

उँगलियाँ कटाकर मालिक की तिजोरी भर रहे हैं आई.ई.डी. के मज़दूर

(पेज 1 से आगे)

तो इस यन्त्र में एक सेंसर लगाने का प्रावधान होता है जिसके लगे होने पर यन्त्र तब तक नीचे नहीं गिरता, जत तक कि उसके नीचे किसी का हाथ या कोई अंग हो। जब मज़दूर अपना हाथ हटा लेता है, केवल तभी वह हिस्सा नीचे गिरता है; लेकिन सेंसर के कारण उत्पादन की गति थोड़ी धीमी हो जाती है। वास्तव में, गति धीमी नहीं होती, बल्कि इस मशीन के चलने की सही और जायज़ स्पीड यही है। लेकिन मुनाफ़े की हवस में पूँजीपति जायज़-नाजायज़ की परवाह ही कहाँ करता है? सुधीर कोड़ा, जो कि आई.ई.डी. का मालिक है, ने मज़दूरों को उत्पादन का ऐसा लक्ष्य दिया जिसे सेंसर के साथ पूरा ही नहीं किया जा सकता है। उसने मज़दूरों से साफ़ कहा कि अगर इतना प्रोडक्शन नहीं दे सकते तो कहीं और जाकर काम करो। इतना प्रोडक्शन दोगे, तभी तुम्हारे लिए यहाँ काम है। ऐसे में मज़दूरों के सामने और कोई चारा नहीं था। नतीजतन, अधिकांश मशीन ऑपरेटर अपनी मशीनों से सुरक्षा सेंसर हटाने के लिए मजबूर हो गये। यहीं से शुरू हुआ मज़दूरों के साथ दुर्घटनाओं का सिलसिला और उनके अपंग होने की दर्दनाक कहानी।

'मज़दूर बिगुल' के संवाददाता को कटी हुई उँगलियाँ दिखाते आई.ई.डी. के मज़दूर। नीचे दायीं ओर की तस्वीर में मालिकान की संवेदनहीनता का शिकार बने कुछ मज़दूर नज़र आ रहे हैं।

300 से अधिक मज़दूर हुए अपंग

पिछले आठ वर्षों में हाथ पर मशीन गिरने के कारण क़रीब 300 मज़दूर अपने हाथ की एक उँगली, कुछ उँगलियाँ और कईयों की तो पूरी हथेली ही इसकी भेंट चढ़ चुके हैं। राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र के भीतर हम एक ऐसे कारख़ाने की बात कर रहे हैं जहाँ 300 मज़दूर अपने हाथ खो देते हैं, कुशल मज़दूर से बेकार बन जाते हैं, और कहीं कोई चर्चा तक नहीं होती। ताज्जुब की बात तो यह है कि इस कारख़ाने में यूनियन होने के बावजूद ऐसा हो रहा है। 2 वर्ष पहले सीटू यहाँ आ चुकी है। लेकिन सीटू ने हमेशा की तरह मज़दूरों से ग़द्दारी करते हुए और मालिकों और प्रबन्धन से यारी दिखलाते हुए मज़दूरों को संघर्ष न करने के लिए प्रेरित किया। वास्तव में, अपंग हो चुके मज़दूरों को मालिक अक्सर एक कुशल मशीनमैन से हेल्पर बना देता था और उससे भी काम निकलवा लेता था। इसमें उसे कोई नुक़सान नहीं था। इन मज़दूरों की तरफ़ से सीटू ने कभी मुआवज़े तक की माँग नहीं की। उल्टे सीटू के नेतृत्व ने मज़दूरों के दिमाग़ में यह बात पैठा दी कि यह तो मालिक की दरियादिली है कि अपंग हो जाने के बावजूद वह तुम्हें काम से नहीं निकाल रहा है! यहीं चुपचाप काम करो, इससे बेहतर मालिक तुम्हें कहीं नहीं मिलेगा! यहाँ मज़दूरों ने अपने शरीर के अंग मालिक की हवस और उसकी ग़ैर-क़ानूनी हरक़त के कारण खोये हैं, अपनी ग़लती से नहीं। अगर मशीन में सेंसर नहीं लगे होंगे, तो मज़दूर चाहे जितनी भी सावधानी से काम करें, दुर्घटना होगी ही होगी। उन मशीनों का निर्माण ही सेंसर के साथ उत्पादन करने के लिए किया गया है। लेकिन मालिक ज़्यादा से ज़्यादा मुनाफ़ा कमाने के लिए इन सेंसरों को हटवा देता है और उसकी क़ीमत चुकाते हैं मज़दूर, अपनी उँगलियाँ-हाथ करवाकर। और सीटू के घिनौने विश्वासघात के कारण और श्रम क़ानूनों की पर्याप्त जानकारी नहीं होने के कारण मज़दूर भी इस बात को मान बैठे थे कि आज के बेरोज़गारी के ज़माने में हाथ कटने के बावजूद अगर कहीं हेल्पर का काम मिला हुआ है तो शोर मचाने का कोई फ़ायदा नहीं है, चुपचाप यहीं काम करो और जैसे-तैसे रोज़ी-रोटी कमाओ। मज़दूर मुआवज़ा क़ानून के तहत ऐसे मज़दूरों को भारी मुआवज़ा मिल सकता है। और जब हाथ कटने की ये घटनाएँ इतने बड़े पैमाने पर हुई हैं तब तो सुधीर कोड़ा पर आपराधिक मामला दर्ज होना चाहिए और उसे मुआवज़ा देने के अतिरिक्त, जेल की सलाख़ों के पीछे होना चाहिए। लेकिन सीटू की ग़द्दारी के चलते वह ऐश कर रहा है और अपंग मज़दूर कुशल मशीनमैन से हेल्पर बनकर ग़ुलामी की परिस्थितियों में काम कर रहे हैं।

वास्तव में, ऐसे कई मज़दूरों को थोड़े समय तक हेल्पर रखने के बाद कोई न कोई ग़लती दिखाकर निकाल दिया जाता है। कटे अंग वाले बेहद थोड़े ही मज़दूर हैं, जो यहाँ बच पाते हैं। कुल मिलाकर, देर-सबेर मालिक पहले उनके हाथ कट जाने का पूरा इन्तज़ाम करता है और फिर उन्हें निकाल बाहर करता है।

कारख़ाने में सुरक्षा सम्बन्धी कोई उपकरण नहीं दिया जाता

सेंसरों को हटाने के अलावा, कारख़ाने में मज़दूरों को कोई सुरक्षा पहनावा या उपकरण भी नहीं दिया जाता है। न तो उन्हें जूते दिये जाते हैं, न दस्ताने, न टोपी और न ही कोई वर्दी। पहले वर्दी दी जाती थी, वह भी उनसे छीन ली गयी। ऐसे में दुर्घटनाओं की सम्भावना और अधिक बढ़ जाती है। यही कारण है कि जिन मामलों में दुर्घटनाओं से बचा सकता था, उनमें भी नहीं बचा जा सका। जब दुर्घटना हो जाती है, उसके बाद भी मज़दूर घण्टों तक कारख़ाने में तड़पते रहते हैं। जितने भी मज़दूरों के हाथ कटे हैं, वे सभी कई घण्टों तक बिना किसी उपचार के कटे अंगों के साथ कारख़ाने के भीतर ही ख़ून से लथ-पथ तड़पते रहे हैं। कई मामलों में अन्त तक कारख़ाना प्रबन्धन की ओर से कोई मदद नहीं की गयी और अन्ततः उन्हें साथी मज़दूर ही उपचार के लिए अस्पताल लेकर गये। जिस प्राइवेट नर्सिंग होम को आई.ई.डी. में घायल मज़दूरों के उपचार का ठेका दिया गया है और जहाँ मज़दूरों का उपचार निःशुल्क होना चाहिए, वहाँ का प्रबन्धन घायल मज़दूरों के पहुँचने पर कहता है कि तुम्हारे मालिक ने मेरा पैसा नहीं दिया है, जाओ पहले अपने मालिक से बात करो। नतीजतन, मज़दूरों को पहले वहाँ भी काफ़ी देर तक तड़पना पड़ता है। इसके बाद कहीं जाकर मज़दूरों का उपचार हो पाता है। ऐसी स्थितियों में काम करने के लिए मजबूर मज़दूर न सिर्फ़ अपने हाथ गँवाते हैं, बल्कि दुर्घटना के बाद दर्द के साथ और ख़ून से लथ-पथ घण्टों तक तड़पते रहते हैं।

इसके ऊपर से कारख़ाने में मालिक ने भयंकर आतंक फैला रखा है। तीन-चार साल पहले तक वह स्वयं मज़दूरों को धमकाने और आतंकित करने आया करता था। लेकिन अब उसने यह काम स्वयं करना बन्द कर दिया है और प्रबन्धन के गुण्डों से यह काम करवाता है। ये गुण्डे मज़दूरों को डराने-धमकाने के अतिरिक्त कई बार उन्हें मारने-पीटने का भी काम करते हैं। मज़दूरों के बीच इनके ख़िलाफ़ भारी रोष है। लेकिन उनके ख़िलाफ कोई भी कार्रवाई करने से मज़दूरों को सीटू का नेतृत्व रोक देता है।

पहले मज़दूरों को अपने नाम व कार्य के विवरण वाले पंचिंग कार्ड और पहचान-पत्र मिलते थे। लेकिन अब उन्हें एक सादा कार्ड मिलता है जिस पर कुछ भी नहीं लिखा होता है। पहले उन्हें वर्दी मिलती थी, वह भी उनसे छीन ली गयी। इस कारख़ाने में क़रीब 1200 मज़दूर इन्हीं हालात में काम करते हैं।

आई.ई.डी. में मज़दूरों के संघर्ष का इतिहास

आई.ई.डी. के मज़दूरों ने कुछ समय पहले कारख़ाने के भीतर संगठित होने की शुरुआत की। इस समय तक उन्होंने सीटू आदि से कोई सम्पर्क नहीं किया था। मज़दूरों ने कुछ मीटिंगें और सभाएँ कीं। इस प्रक्रिया में उन्होंने अपनी माँगों को रेखांकित किया। इन माँगों में प्रमुख माँग यह थी कि उन्हें सैमटेल के कुशल मज़दूर जितना वेतन, यानी कि इंजीनियरिंग ग्रेड के मज़दूर का वेतन मिले; दूसरी प्रमुख माँग यह थी कि कारख़ाने के भीतर स्थित कैण्टीन में भोजन करना अनिवार्य न हो (ज्ञात हो कि पहले आई.ई.डी. के भीतर स्थित कैण्टीन में ही मज़दूरों को भोजन करना अनिवार्य था और इसके पैसे काट लिये जाते थे। यहाँ का भोजन खानेलायक नहीं होता था और न ही यहाँ का पानी पीने के लायक); इसके अतिरिक्त, मज़दूरों ने अपने बकाया ओवरटाइम की भी माँग की। इन माँगों पर संघर्ष के दौरान ही इन मज़दूरों ने सीटू से सम्पर्क किया। सीटू ने मालिकों और प्रबन्धन से बातचीत करके इनमें से कुछ माँगों को पूरा करवाया। मज़दूरों के अनुसार, ये बड़ी साधारण और मामूली माँगें थीं जिन्हें वे खुद कारख़ाने के भीतर भी संघर्ष करके जीत सकते थे। सीटू ने इन माँगों में से कुछ को पूरा करवाने के बाद मज़दूरों के बीच यह बात कूट-कूटकर भर दी कि जो भी माँगें पूरी हुई हैं, वे सीटू की बदौलत ही पूरी हो पाई हैं और मज़दूरों को सीटू का अहसानमन्द होना चाहिए। इन मामूली माँगों के पूरा होने के चलते आज भी मज़दूर सीटू के अहसानमन्द हैं।

वास्तव में सीटू ने वे माँगें उठायी ही नहीं, जो उठायी जानी चाहिए थीं। मज़दूरों ने बीती दीपावली के पहले कारख़ाने में सैमटेल के मज़दूरों के बराबर वेतन और कुछ अन्य माँगों को लेकर संघर्ष शुरू किया। लेकिन विडम्बना की बात है कि तब भी उनके माँगपत्रक में जो सबसे बुनियादी माँगें होनी चाहिए थीं, वे नहीं थीं; यानी, मशीनों में सेंसर लगवाने या उत्पादन को उस स्तर पर रखने की माँग जिसके लिए सेंसर न हटवाना पड़े; और दूसरी सबसे अहम माँग यह कि जिन मज़दूरों ने अपने हाथ खोये हैं उन्हें क़ानून के मुताबिक़ मुआवज़ा मिले। ख़ैर, इन दो केन्द्रीय माँगों के बिना ही मज़दूरों ने संघर्ष शुरू किया। मज़दूरों के भीतर रोष तो पहले से ही था। उन्हें किसी भी क़िस्म से आवाज़ उठाने पर मारा-पीटा जाता था, उनके ख़िलाफ़

(पेज 7 पर जारी)

कैसा है यह लोकतन्त्र और यह संविधान किनकी सेवा करता है? (पाँचवीं किस्त)

• आलोक रंजन

इस धारावाहिक लेख की चौथी किस्त 'नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक बिगुल' अख़बार के अन्तिम अंक (जून, 2010) में प्रकाशित हुआ था। उसी अख़बार के उत्तराधिकारी के रूप में नवम्बर 2010 में जब 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन शुरू हुआ तो प्रवेशांक में कुछ अपरिहार्य कारणों से इस लेख की अगली किस्त नहीं दी जा सकी। इस अंक से पुनः इस धारावाहिक लेख का प्रकाशन शुरू किया जा रहा है जो आगे के अंकों में जारी रहेगा।

माउण्टबेटन योजना, विभाजन और आज़ादी

नौसेना विद्रोह, 1947 के देशव्यापी मज़दूर उभार, तेलंगाना-तेभागा-पुन्नप्रा वायलार (विशेषकर तेलंगाना) किसान संघर्षों और साम्राज्यवाद-विरोधी देशव्यापी जनउभार की सम्भावनाओं ने किसी क्रान्तिकारी राजनीतिक विकल्प को भले ही जन्म नहीं दिया, लेकिन भारतीय बुर्जुआ वर्ग और ब्रिटिश उपनिवेशवादियों – दोनों को ही आतंकित ज़रूर कर दिया। मुख्यत: इसी आतंक के चलते भयंकर साम्प्रदायिक रक्तपात और बँटवारे के साथ सत्ता का "शान्तिपूर्ण" हस्तान्तरण सम्भव हो सका। उस दौर के शासकीय दस्तावेज़ों (जैसे नौकरशाह वी.पी. मेनन द्वारा वायसराय वेवेल को भेजी गयी रिपोर्टें) से पता चलता है कि कम्युनिस्ट ख़तरे से अंग्रेज़ और कांग्रेस दोनों ही आतंकित थे।

अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियाँ भी सत्ता हस्तान्तरण के लिए अंग्रेज़ों को बाध्य कर रही थीं। दूसरे महायुद्ध में यूरोपीय अर्थव्यवस्थाएँ ध्वस्त हो चुकी थीं, जबकि अमेरिका और मज़बूत होकर उभरा था। अपनी विपुल वित्तीय पूँजी के बल पर वह अपना राजनीतिक-सामरिक वर्चस्व स्थापित कर चुका था और ब्रिटेन, फ़्रांस, स्पेन, हॉलैण्ड और पुर्तगाल के उपनिवेशों को अपना बाज़ार बनाने के लिए आतुर था। प्रत्यक्ष औपनिवेशिक लूट के स्थान पर "बिना उपनिवेश के साम्राज्यवाद" का दौर अब क़ायम होने जा रहा था। आर्थिक कारणों के अतिरिक्त वर्ग-संघर्ष का वैश्विक परिदृश्य भी एक अहम कारण था। नात्सी सत्ता के विरुद्ध लाल सेना के विजयी अभियान के बाद पूरा पूर्वी यूरोप समाजवादी शिविर में शामिल हो चुका था। चीन, कोरिया, वियतनाम और मंगोलिया में कम्युनिस्ट नेतृत्व में राष्ट्रीय जनवादी क्रान्तियों की विजय आसन्न थी। चारों ओर से उठ रहा लाल बवण्डर राष्ट्रीय मुक्ति-युद्धों की आँधी के साथ मिलकर चक्रवाती तूफ़ान का माहौल रच रहा था। भयाक्रान्त साम्राज्यवादी शिविर आत्म-रक्षा के लिए नयी महाशक्ति अमेरिका की चौधराहट स्वीकारने को विवश था। अमेरिका चाहता था कि चीन के पड़ोसी देश भारत में बुर्जुआ वर्ग को सत्ता यथाशीघ्र हस्तान्तरित हो जाये। लाल क्रान्ति का भय उसे भी था और भारत के बाज़ार में घुसपैठ और आधिपत्य की व्यग्रता भी। भारतीय बुर्जुआ वर्ग के चतुर राजनीतिक प्रतिनिधियों ने इस स्थिति का पूरा लाभ उठाया। जनता की एकजुटता और क्रान्तिकारी पहल के अपने हाथ से निकल जाने का भय उन्हें भी था, अत: जुझारू जनसंघर्ष के बजाय उन्होंने साम्प्रदायिक हिंसा और बँटवारे के साथ सत्ता-हस्तान्तरण का विकल्प चुना। यह भी उल्लेखनीय है कि इस समय तक भारतीय पूँजीपति वर्ग की आर्थिक शक्ति और आत्मविश्वास भी काफ़ी बढ़ चुका था। वह यह भी जानता था कि ब्रिटिश उपनिवेशवादियों के समक्ष एकमात्र विकल्प यही है कि वे बुर्जुआ वर्ग की मुख्य प्रतिनिधि पार्टी कांग्रेस को सत्ता सौंपें। भारतीय पूँजीपति वर्ग सत्तासीन होने के बाद ब्रिटिश पूँजी के हितों की सुरक्षा और उसके साथ सहकार के लिए विवश था और वचनबद्ध भी। साथ ही, वह अन्य साम्राज्यवादियों की पूँजी को भी आमन्त्रित कर सकता था। पर इतना तय था कि साम्राज्यवाद से निर्णायक विच्छेद वह क़तई नहीं कर सकता था।

20 फ़रवरी 1947 को हाउस ऑफ़ कॉमन्स में ब्रिटिश लेबर पार्टी सरकार के प्रधानमन्त्री एटली ने घोषणा की कि जून 1948 तक भारतीय राजनीतिज्ञ यदि किसी संविधान पर, या केन्द्रीय सरकार की स्थापना के प्रश्न पर सहमत नहीं होंगे तो सत्ता विभिन्न प्रान्तों की सरकारों को सौंपकर अंग्रेज़ भारत छोड़ देंगे। इस घोषणा में यह भी निहित था कि ऐसे सत्ता-हस्तान्तरण के बाद रजवाड़ों से भी ब्रिटिश सत्ता समाप्त हो जायेगी और वे स्वतन्त्र हो जायेंगे। इस तरह, यह भारत के विखण्डन का भी संकेत था। यह न तो कांग्रेस चाहती थी, न ही मुस्लिम लीग। सत्ता-हस्तान्तरण की भावी अनुकूल योजना पर अमल के लिए वेवेल की जगह माउण्टबेटन को नया वायसराय नियुक्त किया गया। विभाजन सहित राजनीतिक स्वतन्त्रता की बात इस समय तक लगभग सभी को स्वीकार्य हो चुकी थी। माउण्टबेटन ने कैबिनेट मिशन की पुरानी योजना को नयी परिस्थितियों में अव्यावहारिक मानते हुए 'प्लान बाल्कन' गुप्त नामवाली नयी वैकल्पिक योजना बनायी। इसमें विभिन्न प्रान्तों या उनके संघों को सत्ता हस्तान्तरण का प्रावधान था, पंजाब और बंगाल की विधायिकाओं को अपने प्रान्तों के विभाजन का अधिकार दिया जाना था तथा ऐसी सभी इकाइयों और रियासतों-रजवाड़ों को यह अधिकार दिया जाना था कि वे चाहें तो भारत या पाकिस्तान में शामिल हों या स्वतन्त्र रहें। माउण्टबेटन से इस योजना की जानकारी मिलने पर नेहरू ने इसका तीखा विरोध किया। फिर डोमीनियन स्टेटस के आधार पर भारत और पाकिस्तान की दो केन्द्रीय सरकारों को सत्ता हस्तान्तरित करने की नयी वैकल्पिक योजना माउण्टबेटन ने प्रस्तुत की। इसका आधार सरकारी अफ़सर वी.पी. मेनन द्वारा जनवरी 1947 में भारत सचिव को दिया गया सुझाव था। डोमीनियन स्टेटस के आधार पर सत्ता हस्तान्तरण कांग्रेस के 1929 के लाहौर अधिवेशन के प्रस्ताव से पीछे हटना था, पर पटेल इस सुझाव से सहमत थे। उनका मानना था कि इससे शीघ्र और शान्तिपूर्वक सत्ता-हस्तान्तरण सम्भव होगा तथा औपनिवेशिक नौकरशाही व सेना की निरन्तरता भी बनी रहेगी जो नये केन्द्रीकृत बुर्जुआ शासनतन्त्र के लिए ज़रूरी है। साथ ही ब्रिटेन से भारत के अच्छे सम्बन्ध भी बने रहेंगे जो स्वतन्त्र भारत के लिए उचित रहेगा। इसीलिए, वी.पी. मेनन के पुराने सुझाव पर पटेल की सहमति पर आधारित नयी माउण्टबेटन योजना जब पेश की गयी तो उस पर आम सहमति बनते देर न लगी।

माउण्टबेटन योजना इस प्रकार थी :

(1) उपमहाद्वीप में दो डोमीनियन – भारतीय संघ और पाकिस्तान – स्थापित किये जायेंगे; (2) पंजाब और बंगाल के विभाजन का प्रश्न इन प्रान्तों के हिन्दू या मुस्लिम बहुल प्रतिनिधियों के पृथक मतों द्वारा तय होगा; (3) उत्तर-पश्चिम सीमा प्रान्त तथा असम के मुस्लिम बहुल सिलहट ज़िले में जनमत-संग्रह होगा; (4) सिन्ध का भविष्य प्रान्तीय विधानमण्डल में मतदान द्वारा तय होगा; (5) रजवाड़ों-रियासतों के भारत या पाकिस्तान में शामिल होने का निर्णय उनके शासकों द्वारा लिया जायेगा; (6) संविधान सभा दोनों देशों की अलग-अलग संविधान सभाओं में बँट जायेगी।

3 जून को माउण्टबेटन ने अपनी नयी योजना की घोषणा की और यह प्रस्ताव रखा कि जून 1948 की जगह 15 अगस्त 1947 को ही सत्ता

(पेज 5 पर जारी)

उँगलियाँ कटाकर मालिक की तिजोरी भर रहे हैं आई.ई.डी. के मज़दूर

(पेज 6 से आगे)

झूठे मुक़दमे दर्ज कराये जाते थे और हर सम्भव तरीक़े से उनका उत्पीड़न किया जाता था। मज़दूरों की एक माँग यह भी थी कि उन्हें 20 प्रतिशत बोनस मिले। पहले उन्हें 20 प्रतिशत बोनस मिलता था जिसे सैमटेल का उदाहरण देकर 8.33 प्रतिशत कर दिया गया। लेकिन जब सैमटेल में फिर से बोनस 20 प्रतिशत हुआ तो यहाँ के मज़दूरों ने भी 20 प्रतिशत बोनस की माँग उठायी। इन्हीं माँगों को लेकर मज़दूरों ने आन्दोलन शुरू किया और कारख़ाने पर क़ब्ज़ा भी कर लिया। इस पर कारख़ाना मालिक और प्रबन्धन ने छह मज़दूरों पर झूठे आरोप लगाये और उनके बीच अफ़वाह फैला दी कि उनके ख़िलाफ़ मुक़दमा दर्ज कर लिया गया है, जबकि वास्तव में, उन्हें सिर्फ़ कारख़ाने की ओर से नोटिस भेजा गया था और कोई प्राथमिकी भी दर्ज नहीं हुई थी। लेकिन सीटूवालों ने इस प्रचार का इस्तेमाल मज़दूरों की हड़ताल तुड़वाने और क़ब्ज़ा हटवाने के लिए किया।

जिस समय संघर्ष को और मज़बूत करके कारख़ाने पर क़ब्ज़े को जारी रखना चाहिए था, उस समय सीटू के ग़द्दारों ने मज़दूरों के दिमाग़ में यह बात पैठा दी कि कारख़ाने के पाँच गेटों पर एक साथ क़ब्ज़ा नहीं किया जा सकता, और अभी आन्दोलन वापस ले लेते हैं और पहले उन छह मज़दूरों के ख़िलाफ मामला वापस होने का इन्तज़ार करते हैं और फिर दोबारा आन्दोलन शुरू करेंगे। यही कारण था कि मज़दूरों ने उन छह मज़दूरों पर मामला वापस लेने के बदले में अपना संघर्ष वापस ले लिया। उन छह मज़दूरों पर कोई मामला तो दर्ज था नहीं, इसलिए क़ानूनी तौर पर कुछ भी नहीं होना था, लेकिन उन मज़दूरों को मालिक ने काम से निकाल दिया। इसके अतिरिक्त, इसी दौरान मालिक ने 40 और मज़दूरों को भी निकाल बाहर किया। और आज तक उन मज़दूरों को वापस नहीं लिया गया है और न ही उनकी कोई सुनवायी हुई है।

वास्तव में, सीटू से पल्ला झाड़कर मज़दूरों को उसी समय अपने आन्दोलन को और मज़बूत करना चाहिए था, लेकिन सीटू के प्रति अहसानमन्दी जैसी भावना के कारण मज़दूर उसकी बातों में आ गये। कारख़ाने के भीतर का नेतृत्व लड़ने को तैयार था, लेकिन इसके बावजूद सीटू ने उसकी पहल को खुलने नहीं दिया और मालिकों और प्रबन्धन के फ़ायदे के लिए हर सम्भव प्रयास किया।

आगे का रास्ता

अगर आगे मज़दूरों को अपनी माँगों के लिए संघर्ष को विजय तक पहुँचाना है तो उन्हें फिर से कारख़ाने में वैसा ही जुझारू संघर्ष करना होगा, जैसा उन्होंने अपनी पहल पर दीपावली के पहले शुरू किया था। 5 गेटों को बन्द करना 1200 मज़दूरों के लिए कोई असम्भव कार्य नहीं है। आज मज़दूरों की प्रमुख माँगों का एक नया माँगपत्रक तैयार करना होगा और नये सिरे से संघर्ष की शुरुआत करनी होगी। इन माँगों में सर्वप्रमुख है सेंसरों को मशीन पर पुन: लगवाना और उत्पादन लक्ष्य को उसके अनुरूप निर्धारित करवाना; दूसरी प्रमुख माँग होगी उन मज़दूरों को क़ानूनसम्मत उचित मुआवज़ा दिलवाना जिनका कारख़ाने में अंग-भंग हुआ है; तीसरी प्रमुख माँग होनी चाहिए निकाले गये 46 मज़दूरों को वापस रखना; चौथी माँग होगी सभी सुरक्षा उपकरण मुहैया कराया जाना; पाँचवीं माँग यह बनती है कि मज़दूरों को उचित बोनस दिया जाये और मज़दूरी का भुगतान करने में देरी न की जाये; छठी माँग होगी कि आई.ई.डी. के मज़दूरों को सैमटेल के मज़दूरों के बराबर वेतन दिया जाये; सातवीं माँग होनी चाहिए मज़दूरों के साथ प्रबन्धन और मालिकों की बदसलूकी का बन्द होना; और आख़िरी माँग यह होनी चाहिए कि कारख़ाने के भीतर श्रम का ठेकाकरण पूरी तरह समाप्त किया जाये। एक ऐसे माँगपत्रक को लेकर समझौताविहीन संघर्ष के रास्ते ही आई.ई.डी. के मज़दूरों को इन्साफ़ मिल सकता है। इसके अतिरिक्त, और किसी भी वार्ता, किसी अधिकारी को ज्ञापन देने और प्रतीकात्मक धरनों से कुछ भी नहीं होने वाला है। और इन माँगों के लिए संघर्ष को सही तरीक़े से अंजाम पर पहुँचाने के लिए सबसे पहले मज़दूरों को सीटू के नेतृत्व के समक्ष यह बात स्पष्ट कर देनी होगी कि अगर वे इस माँगपत्रक पर समझौताविहीन संघर्ष करने और कारख़ाना जाम करने की लड़ाई में साथ देंगे तो वे आ सकते हैं, अन्यथा उनकी कोई ज़रूरत नहीं है। और अगर इस शर्त पर सीटू का नेतृत्व साथ आता है तो भी मज़दूरों को सावधान रहना होगा, क्योंकि मज़दूरों की पीठ में छुरा भोंकने का सीटू का इतिहास बहुत पुराना है। और अगर मज़दूरों को यह लड़ाई अपने बूते पर लड़नी पड़े तो भी उन्हें पीछे नहीं हटना चाहिए और अपनी फौलादी एकजुटता के बूते इस संघर्ष को आगे ले जाना चाहिए।

भारतीय पूँजीवादी जनतन्त्र का भ्रष्ट-पतित-गन्दा और नंगा चेहरा...

(पेज 1 से आगे)

पूँजीवाद भ्रष्टाचार-मुक्त हो ही नहीं सकता। प्रश्न भ्रष्टाचार से मुक्ति का नहीं, बल्कि उत्पादन और राज-समाज के पूँजीवादी तौर-तरीक़ों और ढाँचे से मुक्ति का है। भ्रष्टाचार रोग नहीं, बल्कि अन्दर से इस व्यवस्था को एकसाथ जर्जर और नग्न-निरंकुश जनद्रोही बना रहे रोग का एक लक्षण है। यह अन्दर तक व्याप्त सड़ान्ध को दर्शाता है। जिस व्यवस्था में पूँजीपति वर्ग के सेवक (नेताशाही-नौकरशाही) अपनी बेशुमार सुख-सुविधाओं विलासिताओं और वैध कमाई के अतिरिक्त इतनी अधिक अवैध कमाई कर रहे हैं, उसमें पूँजीपति वर्ग मेहनतकशों को किस कदर निचोड़ रहा होगा, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

ख़ुशहाल मध्यवर्ग की दृष्टि : 'भ्रष्टाचार कम हो, देश की तरक़्क़ी हो, शोषण-उत्पीड़न की कोई बात नहीं'

कभी बोफ़ोर्स घोटाला, कभी चारा घोटाला, कभी पनडुब्बी घोटाला, कभी हवाला तो कभी शेयर-घोटाला – घपले-घोटाले पहले भी अख़बारों की सुर्ख़ियाँ बनते रहे हैं, लेकिन 2010 में, एक वर्ष के भीतर जितने घोटालों का घटाटोप रहा, उतना शायद ही पहले कभी हुआ हो।

कॉमनवेल्थ गेम्स उदारीकरण के दौर के भारत का चेहरा चमकाने और विदेशी पूँजी को लुभाने की एक कोशिश थी, पर अधूरी तैयारियों से भद्द पिटने के कारण जब जाँच शुरू हुई तो घोटालों और कमीशनख़ोरी की परत-दर-परत उघड़ने का सिलसिला शुरू हो गया जो अबतक जारी है। लगभग 1 लाख करोड़ रुपये तैयारियों पर ख़र्च हुए थे, जिसमें से कम से कम 40 प्रतिशत भ्रष्टाचार और कमीशनख़ोरी में खप गया था। भारतीय शासक वर्ग और उसके दूरद्रष्टा राजनीतिक प्रतिनिधि राष्ट्रमण्डल खेलों से सम्भावना-सम्पन्न भारतीय बाज़ार के छवि-निर्माण का वह काम करना चाहते थे जो बीजिंग ओलम्पिक से चीन के शासक वर्ग और विश्वकप फ़ुटबॉल के आयोजन से दक्षिण अफ़्रीका के शासक वर्ग ने किया था। ऐसा नहीं हो सका। कमीशनख़ोरी और भ्रष्टाचार तय सीमा से बाहर चला गया और अनियन्त्रित हो गया। यह व्यवस्था की मशीनरी की अन्दरूनी मजबूरी थी। और तब चीज़ों को क़ाबू में करने के लिए कुछ क़दम उठाये ही जाने थे। **खुले बाज़ार की संस्कृति से चुँधियाया जो भारतीय खाया-पीया-अघाया मध्यवर्ग है, वह "राष्ट्रीय गौरव स्थापित करने वाले महापर्व" के फ़्लॉप शो साबित होने से ज़्यादा दुखी था, और इसलिए भ्रष्टाचारियों को भला-बुरा कह रहा था। उसे इस बात से कोई मतलब नहीं था कि जिस देश में हर रोज़ 40 करोड़ से अधिक लोग भूखे पेट सोते हैं, जहाँ 40 प्रतिशत बच्चे कुपोषित हैं, जहाँ शिशु मृत्यु दर सबसे अधिक है, जहाँ की 77 फ़ीसदी आबादी 20 रुपये रोज़ से भी कम पर गुज़ारा करती है, वहाँ राष्ट्रमण्डल खेलों के नाम पर एक लाख करोड़ रुपये ख़र्च करना एक अमानवीय, बेशर्म हरक़त से कम कुछ भी नहीं है।** जनता से उगाहे गये करों से दस दिनों के खेलों की तैयारी और दिल्ली की रौनक पर एक लाख-करोड़ ख़र्च करने वाली सरकार के बजट में कुपोषण समाप्त करने के लिए देश स्तर पर चलाई जा रही समेकित बाल विकास योजना पर ख़र्च के लिए मात्र आठ हज़ार सात सौ करोड़ रुपये ही हैं। नये-नये, भव्य शॉपिंग मॉलों-मल्टीप्लेक्सों-नयी-नयी कारों-मेट्रो और नित नयी उपभोक्ता वस्तुओं के अवतरण से पुलकित- चकित मध्यवर्गीय उपभोक्ता समुदाय को इस बात से कुछ भी लेना-देना नहीं है कि खेलों की तैयारियों में लगी एजेंसियों ने सभी श्रम क़ानूनों को ताक पर रखकर मज़दूरों से काम कराया। खेलों के कार्यस्थलों पर आपराधिक लापरवाहियों के कारण 65 श्रमिकों की मौत हो गयी, जिनकी न्यायिक जाँच से दिल्ली सरकार ने इनकार कर दिया। यही नहीं, खेलों की तैयारियों के दौरान हुई मज़दूरों की मौत के बारे में **पी.यू.डी.आर.** के सूचना माँगने पर दिल्ली सरकार का सीधा जवाब था कि उसके पास ऐसी कोई सूचना नहीं है। **राजधानी में केन्द्रित "राष्ट्रीय" मीडिया ने सच्चाई के इस पहलू की एकदम अनदेखी की। वह "राष्ट्रीय गौरव" के भूलुण्ठन पर मध्यवर्गीय चीख़-पुकार का भोंपू बना रहा, लेकिन यह तथ्य कहीं कोने-अन्तरे में दबकर रह गया कि अतिथि "महामहिमों" के सामने दिल्ली की भव्य तस्वीर प्रस्तुत करने के लिए कम से कम ढाई लाख ग़रीब लोगों को सरकार ने शहर-बदर कर दिया था। यह तथ्य भी ख़ुशहाल मध्यवर्ग के लिए कोई महत्त्व नहीं रखता कि खेलों की तैयारी में लगी सरकार ने कुल 40 हज़ार झुग्गी-झोपड़ियों को तोड़कर दो लाख से अधिक लोगों को बेघर कर दिया। दिल्ली की कुल आबादी इस समय 1 करोड़ 30 लाख है। 30 वर्षों तक श्रीलंका में चले गृहयुद्ध में कुल 2 करोड़ आबादी में से तीन लाख लोगों का आन्तरिक विस्थापन हुआ था। इस तरह कहा जा सकता है कि कॉमनवेल्थ गोम्स का आयोजन राजधानी के ग़रीबों के विरुद्ध सरकार द्वारा छेड़े गये गृहयुद्ध जैसा ही था। अभिजन समाज को इस "गृहयुद्ध" की बर्बरता की चिन्ता नहीं थी। उसका रोना यह था कि भ्रष्टाचार की अति ने "राष्ट्रीय गौरव" की चमक फीकी कर दी।** अभिजन समाज भ्रष्टाचार-मुक्त या नियन्त्रित भ्रष्टाचार वाले पूँजीवादी विकास की रौनक का अभिलाषी है, पूँजीवादी अन्याय-उत्पीड़न से उसे कोई शिकायत नहीं। या तो वह इसे उचित ठहराता है, या इसकी अनदेखी करता है या फिर यह कहता है कि 'इसका और कोई विकल्प सम्भव नहीं।'

कॉरपोरेट युद्ध और व्यवस्था के गहराते संकट से घोटालों के भण्डाफोड़ का रिश्ता

2010 का अन्त हो रहा है 2-जी स्पेक्ट्रम के घोटाले के शोर-शराबे से। टेलीकॉम सेक्टर में कार्यरत कुछ कॉरपोरेट घरानों को लाभ पहुँचाने के लिए तरह-तरह से पक्षपात किया गया और उन्हें 'दोहरी तकनोलॉजी' लाइसेंस और स्पेक्ट्रम बेहद सस्ती दरों पर अलॉट कर दिये गये। सी.ए.जी. रिपोर्ट के अनुसार, इससे सरकार को कुल 1 लाख 76 हज़ार करोड़ रुपये की चपत लगी।

इस बात पर कोई मूर्ख ही यक़ीन करेगा कि इस सारे घोटाले को सिर्फ़ इस्तीफ़ा दे चुके संचार मन्त्री ए. राजा, चन्द नौकरशाहों और कम्पनी दलालों (जिन्हें 'कॉरपोरेट लॉबिइस्ट' कहा जाता है) ने मिलकर अंजाम दिया है। 'कॉरपोरेट लॉबिइस्ट' नीरा राडिया और रतन टाटा की बातचीत के टेप लीक होने के बाद रहस्य-रोमांच कथा की तरह घोटाले की परतें खुलती जा रही हैं। कई पूर्व और वर्तमान नौकरशाह कठघरे में हैं। न्यायपालिका भी अछूती नहीं बची है। चेन्नई हाई कोर्ट के न्यायाधीश रघुपति के इस बयान का सुप्रीम कोर्ट के तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश बालकृष्णन ने खण्डन किया कि ए. राजा ने जज रघुपति पर किसी मामले में दबाव डाला था और इसकी जानकारी बालकृष्णन को पत्र द्वारा दे दी गयी थी। अब चेन्नई हाई कोर्ट के मुख्य न्यायाधीश गोखले ने रघुपति के वक्तव्य को सही बताते हुए बालकृष्णन के खण्डन का खण्डन कर दिया है।

सुप्रीम कोर्ट ने 2001 से टेलीकॉम क्षेत्र में लाइसेंस आवण्टन की जाँच की बात की है। यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि टेलीकॉम सेक्टर को निजी कम्पनियों के लिए 1994 में खोले जाने के बाद पहला घोटाला 1995 में कांग्रेसी संचार मन्त्री सुखराम के कार्यकाल के दौरान हुआ था जो 85,000 करोड़ रुपये का था। दूसरे और तीसरे घोटाले राजग गठबन्धन सरकार के दौरान 1999 और 2001 में हुए थे।

नीरा राडिया-रतन टाटा टेप लीक होने के बाद टाटा ने इसे निजता के अधिकार का उल्लंघन बताते हुए सुप्रीम कोर्ट में याचिका दाख़िल की। मीडिया के एक बड़े हिस्से ने सुर में सुर मिलाया और मनमोहन सिंह ने भी कहा कि टेप लीक नहीं होने चाहिए थे। लेकिन सवाल यह है कि जिस बातचीत में एक पूँजीपति और एक कम्पनी दलाल मन्त्री को प्रभावित करने, पत्रकारों का इस्तेमाल करने और कॉरपोरेट-प्रतिस्पर्धा के बारे में खिचड़ी पका रहे थे, उसे निजी बातचीत कैसे कहा जा सकता है? पर बुनियादी सवालों का दायरा इससे भी कहीं अधिक व्यापक है।

टाटा की याचिका के बाद यू.पी.ए. के घटक दलों की एक बैठक में शरद पवार ने चेतावनी दी कि सरकार यदि बिना "विशेष कारण" के कॉरपोरेट समूहों को निशाना बनायेगी और उनके ख़िलाफ़ जाँच एजेंसियों का इस्तेमाल करेगी तो सरकार की स्थिरता ख़तरे में पड़ सकती है। प्रकारान्तर से शरद पवार पूँजीवादी जनवाद की इस सच्चाई को स्वीकार कर रहे हैं कि कॉरपोरेट समूहों को नाराज़ करके कोई सरकार स्थिर नहीं रह सकती।

सच्चाई यह है कि हर पूँजीवादी सरकार पूँजीपति वर्ग की मैनेजिंग कमेटी होती है। जबतक पूँजीपतियों के बीच व्यापारिक प्रतिस्पर्द्धा सामान्य रूप में चलती रहती है और आम हितों के मसलों पर उनकी सहमति का पहलू प्रधान रहता है, तबतक सरकार सहजता से चलती रहती है, मनमुआफ़िक नीतियाँ बनती रहती हैं और नेताशाही-नौकरशाही का "नियन्त्रित भ्रष्टाचार" मुद्दा बनकर उछलता नहीं है। लेकिन पूँजीपति घरानों के बीच टकराव जब उग्र हो जाता है, तब नौकरशाही-नेताशाही-मीडिया मठाधीशों आदि को ख़रीदने-पटाने का खेल भी घनघोर हो जाता है तथा नेता-अफ़सर-पत्रकार भी इसका भरपूर लाभ उठाने लगते हैं। ऐसे ही समय में कम्पनियों की आपसी तकरार के कारण घोटालों के भाण्डे फूटने लगते हैं, गुप्त वार्ताओं के टेप बाहर आने लगते हैं, बुर्जुआ मीडिया का एक हिस्सा दूसरे हिस्से की कलई खोलते हुए पूरे मीडिया तन्त्र को ही नंगा करने लगता है, जाँच एजेंसियाँ सक्रिय हो जाती हैं, कभी-कभी चपेट में आकर न्यायपालिका भी अपनी कथित निष्पक्षता की साख खोने लगती है, संसद ठप्प हो जाती है और सरकार का काम करना मुश्क़िल हो जाता है। यह ऐसा ही समय है जब पूँजीवादी व्यवस्था के संकट के कारण उसके अन्दरूनी अन्तरविरोध उग्र हो उठे हैं और पूँजीवादी जनवाद की वर्गीय अन्तर्वस्तु उजागर होने लगी है। घुटे-घुटाये बुर्जुआ रानीतिज्ञ शरद पवार को वे दिन याद होंगे जब दो बड़े कॉरपोरेट समूहों के बीच छिड़े युद्ध में फँसकर राजीव गाँधी की सरकार पंगु हो गयी थी। और यह तो उन्हें पता होगा ही कि हथियार बेचने वाले राष्ट्रपारीय निगमों के बीच की लड़ाई भी बोफोर्स घोटाले और पनडुब्बी घोटाले के उजागर होने का एक कारण थी। कॉरपोरेट-युद्ध में शरद पवार स्वयं कुछ कम्पनियों से निकटता के लिए जाने जाते हैं। लवासा बसाने वाली कम्पनी के साथ वे खुलकर खड़े हैं। हाल ही में कुछ रीयल इस्टेट कम्पनियों को बैंकों और वित्तीय संस्थाओं द्वारा अनुचित तरीक़े से दिये गये कर्ज़ों की जाँच और कार्रवाई से भी वे ख़ासे ख़फ़ा हैं।

हर पूँजीवादी व्यवस्था में सरकार समूचे पूँजीपति वर्ग की 'मैनेजिंग कमेटी' तो होती ही है, अलग-अलग राजनेताओं और नौकरशाहों को अपनी हितपूर्ति के लिए पटाने का काम अलग-अलग पूँजीपति घराने भी ख़ूब करते हैं। यह प्रक्रिया खुली बाज़ार-अर्थव्यवस्था में और अधिक तेज़ हो गयी है। नियम क़ानून की परवाह किये बिना चुनिन्दा कम्पनियाँ नेताओं-नौकरशाहों को पटाकर सार्वजनिक और राष्ट्रीय संसाधनों को लूट रही हैं, परियोजनाओं और खनन के लिए ज़मीनों के पट्टे और लाइसेंस देते समय नियमों-क़ानूनों को ताक पर धर दिया जा रहा है और राजकीय आतंकवाद जनता को बलपूर्वक उसकी जगह-ज़मीन से उजाड़ दे रहा है। पूँजीवादी जनवादी गणराज्य नंगा होकर 'बनाना रिपब्लिक' जैसा बनता जा रहा है और पूँजीवादी 'क्रोनी कैपिटलिज़्म' (चहेतों का पूँजीवाद) बनता जा रहा है। इस होड़ में जो पीछे छूट रहा है, वह सरेराह घपलों-घोटालों का भाण्डा फोड़कर पूरी व्यवस्था को ही नंगा करने का काम कर रहा है।

दो-तीन दशक पहले, मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी 'पब्लिक सेक्टर' में नेताशाही-नौकरशाही के निर्द्वन्द्व-निरंकुश ताक़त की निन्दा करते हुए 'प्राइवेटाइज़ेशन' की ज़रूरत पर बल देते थे। पर निजीकरण-उदारीकरण के दो दशकों के दौरान कॉरपोरेट घरानों ने राष्ट्रीय संसाधनों की लूट और क़ानूनों को ताक पर रखकर श्रम सम्पदा के दोहन के लिए नेताओं-अफ़सरों को और अधिक ख़रीदने का काम किया है तथा बिचौलियों-ठेकेदारों-माफ़ियाओं के गिरोह और व्यापक पैमाने पर, और अधिक ताक़तवर होकर उभरे हैं। **'ग्लोबल फ़ाइनेंशियल इण्टीग्रिटी रिपोर्ट' के मुताबिक़ सिर्फ़ 2000-2008 के बीच 125 अरब डॉलर की रक़म काले धन के रूप में देश से बाहर चली गयी। स्विस बैंकिंग एसोसिएशन की 2006 की रपट के अनुसार स्विस बैंकों में भारतीयों का जमा काला धन 1,456 अरब डॉलर है।** ज्ञातव्य है कि स्विट्ज़रलैण्ड के अतिरिक्त पूरी दुनिया में कम से कम 40 और ऐसे सुरक्षित ठिकाने हैं जहाँ भारतीय धनिकों ने काला धन छिपा रखा है। देश के भीतर जो काला धन और 'अनएकाउण्टेड मनी' मौजूद है, वह बाहर गयी धनराशि से कम नहीं है। नेताओं-अफ़सरों की खरबों की काली कमाई का सालाना निवेश ज़मीन-जायदाद, खनन के पट्टों, शेयर बाज़ार, मीडिया और मनोरंजन जगत, अपंजीकृत और अवैध उद्योगों-व्यापारों, भवन निर्माण, ग़ैरक़ानूनी साहूकारी, स्कूलों-कॉलेजों के धन्धे और सोने-जवाहरात की ख़रीद में होता है। देश की सारी चमक-दमक और बाज़ारों की सारी रौनक ख़ुशहाल मध्यवर्ग की जिस 20 करोड़ आबादी के लिए है, उसकी ऊपरी परत में डॉक्टरों- इंजीनियरों-वरिष्ठ मीडियाकर्मियों के अतिरक्त सबसे बड़ी तादाद में नेता और अफ़सर शामिल हैं। आश्चर्य नहीं कि जिस देश की 77 प्रतिशत आबादी 20 रुपये रोज़ से कम पर गुज़ारा करती हो **वहाँ के 60 फ़ीसदी संसद सदस्य करोड़पति हैं।** इसी हिसाब से पूँजीवादी संसदीय जनवाद का खेल भी महँगा हुआ है। एक अनुमान के अनुसार, **चुनाव में भागीदारी का प्रति उम्मीदवार औसत ख़र्च आठ करोड़ रुपये बैठता है। बड़ी पार्टियों के सन्दर्भ में प्रति उम्मीदवार यह औसत ख़र्च 30 करोड़ रुपये होता है** (अमित भादुड़ी का लेख, ईपीडब्ल्यू, 20-26 नवम्बर, 2010, पृष्ठ 10-14)।

जनतन्त्र का यह भद्दा-नंगा ड्रामा तब वीभत्सता की हदों को पार कर जाता है, जब नवउदारवाद के पैरोकार अकादमिक जगत के लोग और "जनमत-निर्माता" अख़बारी कलम-घसीट और टीवी चैनलों के बकबकिये 10 या 20 वर्षों में भारत के 'ग्लोबल पॉवर' बन जाने की घोषणा करते हैं, विश्वस्तरीय सुविधाओं वाले पाँच सितारा अस्पतालों-स्कूलों-होटलों और

(पेज 9 पर जारी)

भारतीय पूँजीवादी जनतन्त्र का भ्रष्ट-पतित-गन्दा और नंगा चेहरा...

(पेज 8 से आगे)

महँगी गाड़ियों-ए.सी.-फ्रिज-टीवी-कम्प्यूटर-इण्टरनेट-मोबाइल आदि के तेज़ी से बढ़ते बाज़ार के हवाले देते हैं और इस महागाथा के हाशिये पर भी यह चर्चा नहीं होती कि इस उभरती वैश्विक ताक़त के पास इस सदी के मध्य तक कुपोषित, विकलांग और अशिक्षित बच्चों की सबसे बड़ी संख्या होगी। **हमारे देश का मध्यवर्गीय अभिजन समाज इसी नये मीडिया की ख़ुराक पर पलने वाला जीव है और मीडिया से परावर्तित हो रही अपनी ही ग्लैमरस छवि से चुँधियाया हुआ है। आसपास के अँधेरे के पर्दे में छुपी सच्चाई उसे नज़र नहीं आती और देश की तरक़्क़ी के नाम पर कश्मीर और मणिपुर की जनता के बर्बर सैनिक दमन से लेकर माओवाद से निपटने के नाम पर अपनी ही जनता के विरुद्ध राज्यसत्ता द्वारा छेड़े गये युद्ध तक – शासक वर्ग के हर "राष्ट्रवादी प्रोजेक्ट" को समर्थन देने के लिए वह तत्पर खड़ा रहता है।**

मीडिया, न्यायपालिका और सेना : शुचिता का मिथक ध्वस्त और हम्माम में सभी नंगे

वर्ष 2010 में पूँजीवादी व्यवस्था के गहराते अन्तरविरोधों का कुछ ऐसा अनियन्त्रित विस्फोट हुआ कि बुर्जुआ मीडिया की वस्तुपरक तटस्थता और सामाजिक सरोकार के सारे दावे-दिखावे हवा में बिखर गये। राडिया-टाटा टेप लीक से यह सच्चाई जगज़ाहिर हो चुकी है कि **प्रिण्ट मीडिया और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के जो दिग्गज राष्ट्रीय और सामाजिक सरोकारों का दम भरते हैं तथा किसी भी तरह के दबाव-प्रभाव से ऊपर होने का दावा करते हैं, वे पर्दे के पीछे किस तरह कॉरपोरेट लॉबिइस्टों-दलालों के स्टेनोग्राफ़रों की तरह व्यवहार करते हैं और अलग-अलग पूँजीपति घरानों के हितों की पालतू कुत्तों की तरह चौकीदारी करते हैं।** राडिया-टाटा टेप काण्ड से पहले भी इस वर्ष में मध्य तक 'पेड न्यूज़' की चर्चा गर्म रही। इस सच्चाई पर विभ्रमग्रस्त बुद्धिजीवी समुदाय काफ़ी क्षुब्ध रहा कि किस तरह न केवल छुटभैये पत्रकार बल्कि कई मीडिया-घराने भी भारी रक़म लेकर अलग-अलग राजनीतिक पार्टियों की प्रचार-सामग्री को समाचार के रूप में प्रकाशित किया करते हैं। निन्दा-भर्त्सना हुई, जाँच और संगोष्ठियाँ हुईं, प्रेस कौंसिल, एडिटर्स गिल्ड और पत्रकार यूनियनों ने प्रस्ताव पारित करके नुक़सान के यथासम्भव नियन्त्रण और भरपाई की कोशिश की, पत्रकारिता के मूल्यों की हिफ़ाज़त और बहाली की दुहाई दी गयी और फिर सब शान्त हो गया। तय है कि चुनावों के समय आगे भी 'पेड न्यूज़' छपेंगे, पर थोड़ी सावधानी और पर्देदारी के साथ।

सच्चाई यह है कि पूँजी की ताक़त से संचालित मीडिया का काम ही है – व्यवस्था के पक्ष में जनमत तैयार करना, बुर्जुआ सत्ता का राजनीतिक वर्चस्व स्थापित करना (यानी बुर्जुआ शासन के लिए जनता की "सहमति" हासिल करना), प्रकाशित किये जाने वाले तथ्यों का शासकवर्गीय नज़रिये से चुनाव करना और शासकवर्गीय नज़रिये से प्रस्तुत विश्लेषण को जनमानस में स्थापित करना। साथ ही सुधारमूलक दायरे के भीतर मीडिया व्यवस्था की बुराइयों-कमज़ोरियों की आलोचना का मंच बनकर शासक वर्ग की उपयोगी मदद करता है और जनता के बीच तटस्थता-वस्तुपरकता का भ्रम भी बनाये रखता है। इसे "लोकतन्त्र का चौथा खम्बा" यूँ ही नहीं कहा जाता है। वास्तव में बुर्जुआ राज्यसत्ता के अंगों-उपांगों से अलग होते हुए भी यह उससे निकट से जुड़ा होता है और बुर्जुआ वर्ग के वर्चस्व के उपकरण के रूप में व्यवस्था का स्तम्भ होता है।

मीडिया बुर्जुआ वर्ग के वैचारिक-राजनीतिक वर्चस्व का साधन होने के साथ ही अपनेआप में एक व्यवसाय है, एक उद्योग है जिसमें पूँजी लगाकर कॉरपोरेट घराने प्रबन्धकों व शीर्ष बुद्धिजीवियों को अच्छी सुविधाएँ (निचोड़े गये अधिशेष में से हिस्सा) देकर उनकी मदद से नीचे के कर्मचारियों-मज़दूरों के मानसिक-शारीरिक श्रम के दोहन का काम करते हैं। इसके अतिरिक्त मीडिया की तीसरी भूमिका है कम्पनियों और उनके उत्पादित मालों का विज्ञापन छापकर प्रचार करने की। इसके बिना पूँजीवादी बाज़ार चल ही नहीं सकता। नवउदारवाद के दौर में यह तीसरी भूमिका अत्यधिक अहम हो गयी है, लेकिन हर समय में बुर्जुआ मीडिया तीनों काम करता है; **पहला**, बुर्जुआ शासन और सामाजिक ढाँचे के पक्ष में जनमानस तैयार करना, **दूसरा**, एक उद्योग के रूप में मुनाफ़ा कमाना, और **तीसरा**, बाज़ार तन्त्र की मशीनरी में उत्पादों का प्रचार करके बिक्री बढ़ाने के नाते अहम भूमिका निभाना। **जिस मीडिया जगत में मालिकों के कुल राजस्व का 80 से लेकर 100 प्रतिशत तक विज्ञापनों से आता है और जहाँ सभी बड़े खिलाड़ी कॉरपोरेट घराने हैं, वहाँ पत्रकारों की स्वतन्त्रता की बात सोचना ही बेमानी है। आलोचना की पूँजीवादी जनवादी स्वतन्त्रता वहीं तक है जहाँ तक व्यवस्था की वैधता पर सवाल न उठ खड़े हों और बुराइयों-कमज़ोरियों को सुधारने में मदद मिलती रहे।** लेकिन संकट के दौरों में जब कॉरपोरेट युद्ध तेज़ हो जाता है तो अलग-अलग घराने एक-दूसरे पर चोट करते हुए विरोधी की सेवा में सन्नद्ध भाड़े के कलमघसीटों का और अख़बारों-चैनलों का भी असली चेहरा नंगा करने लगते हैं और इस प्रक्रिया में पूरा बुर्जुआ मीडिया ही नंगा हो जाता है जैसा कि अभी हुआ है। व्यवस्था के अन्तरविरोधों की उग्रता के चलते, जब भी ऐसा होता है तो बुर्जुआ वर्ग के घुटे-घुटाये सिद्धान्तकार आगे आते हैं और 'डैमेज कण्ट्रोल' और साख-बहाली के काम में लग जाते हैं जैसा कि अभी हो रहा है।

मार्क्स ने बहुत पहले ही कहा था कि पत्र-पत्रिकाओं के व्यवसाय की स्वतन्त्रता एक विभ्रम है और उनकी एकमात्र स्वतन्त्रता व्यवसाय न होने की स्वतन्त्रता ही हो सकती है। **लेनिन** ने स्पष्ट कहा था कि पूँजीपतियों के पैसे से चलने वाले अख़बार पूँजी की ही सेवा कर सकते हैं। पूँजीवाद में मज़दूर वर्ग का अख़बार, केवल व्यापक मेहनतकश आबादी से जुटाये गये सहयोग के बूते ही निकल सकता है। अब यह एक अलग सवाल है कि संकटकाल में जनवाद की रामनामी

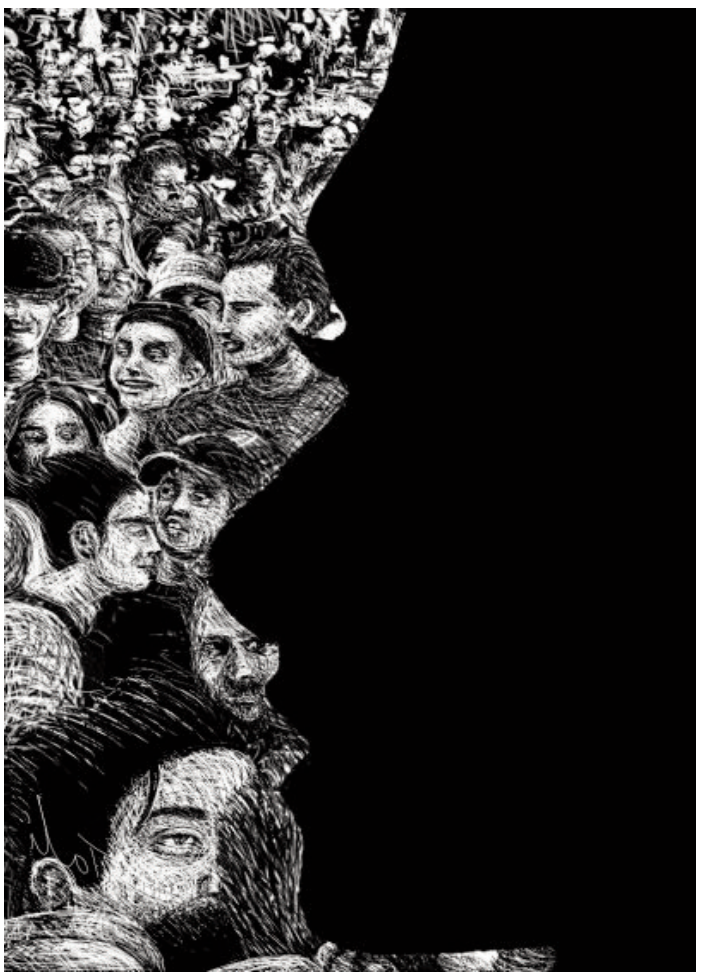

चादर उतार फेंकने के बाद शासक वर्ग ऐसे किसी अख़बार को क़ानूनी तौर पर कब तक प्रकाशित होने देगा! बहरहाल, व्यापक जनसमुदाय के अगुवा दस्ते यदि सजग होते हैं तो वैकल्पिक जन मीडिया संगठित करने के अनेकश: रूप वे हर हाल में विकसित कर लेते हैं।

बर्टोल्ट ब्रेष्ट ने **गोर्की** के प्रसिद्ध उपन्यास **'माँ'** पर आधारित जो नाटक लिखा था, उसमें एक गीत में कहा गया है कि नेता, अफ़सर, जेलर, पुलिस, बुद्धिजीवी और अख़बार ही नहीं बल्कि जज और क़ानून भी पूँजी और पूँजीवादी ढाँचे की सेवा में सन्नद्ध होते हैं। पूँजीवादी प्रचारतन्त्र न्यायपालिका की तटस्थता का सर्वाधिक महिमामण्डन करता है और उसे प्रश्नेतर बनाकर प्रस्तुत करता है। सच्चाई यह है कि न्यायपालिका उसी बुर्जुआ संविधान और क़ानून व्यवस्था से बँधकर न्याय-निर्णय देती है जो पूँजी की सेवा में सन्नद्ध हैं। न्यायपालिका सर्वोपरि तौर पर सम्पत्ति के अधिकार की हिफ़ाज़त की ही गारण्टी करती है। पूँजीवादी शोषण-अन्याय ही सभी सामाजिक अपराधों के स्रोत हैं और इसके विरुद्ध फ़ैसला कोई अदालत नहीं देती। अदालतों से आम नागरिक को किस हद तक न्याय मिल पाता है और किस हद तक उसके अधिकारों की हिफ़ाज़त होती है, यह सच्चाई आज जग ज़ाहिर हो चुकी है।

2010 में व्यवस्था के संकट के बढ़ने और शासक वर्गों के आपसी अन्तरविरोधों के गहराने के साथ ही न्यायपालिका की शुचिता और भ्रष्टाचार-मुक्त होने का मिथक भी रेत की भीत के समान भरभराकर गिर गया। ए. राजा के सन्दर्भ में सुप्रीम कोर्ट के पूर्व मुख्य न्यायाधीश की भूमिका के भी सवालों के घेरे में आने की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। अभी पिछले ही महीने सुप्रीम कोर्ट के दो न्यायाधीशों मार्कण्डेय काटजू और ज्ञानसुधा मिश्रा ने इलाहाबाद हाईकोर्ट में व्याप्त भाई-भतीजावाद और भ्रष्टाचार के विरुद्ध तीखी टिप्पणी की और इलाहाबाद हाईकोर्ट की ओर से याचिका दाख़िल करने के बावजूद अपनी टिप्पणी वापस लेने से मना कर दिया। इसके पहले प्रख्यात विधिवेत्ता प्रशान्त भूषण ने एक साक्षात्कार में सुप्रीम कोर्ट के 6 मुख्य न्यायाधीशों पर भ्रष्टाचार का आरोप लगाया। उनके ऊपर न्यायालय की अवमानना का मामला लम्बित है, पर वे अपने आरोप पर अडिग हैं और प्रमाण देने को तैयार हैं। अवमानना मामले में ख़ुद को भी पक्षकार बनाने का आवेदन देते हुए उनके पिता वरिष्ठ अधिवक्ता शान्तिभूषण ने आठ भ्रष्ट मुख्य न्यायाधीशों के नाम एक सीलबन्द लिफ़ाफ़े में सुप्रीम कोर्ट को सौंपे हैं। इसके पहले उच्चतम और उच्च न्यायालयों के कई जजों के नाम भ्रष्टाचार में उछल चुके हैं और इस समय एक जज पर महाभियोग की प्रक्रिया भी चल रही है। जहाँ तक निचली अदालतों का सवाल है, यह एक 'ओपेन सीक्रेट' है कि वहाँ तहसीलदार और थानेदार के दफ़्तरों जितना ही भ्रष्टाचार व्याप्त है।

सेना की भ्रष्टाचार-मुक्त छवि शासक वर्ग के "राष्ट्रवादी प्रोजेक्ट" की सफलता के लिए अपरिहार्य है (कॉरपोरेट हितों की हिफ़ाज़त और राष्ट्रीय संसाधनों की लूट के लिए अपनी जनता के ख़िलाफ़ छेड़े गये युद्ध के अतिरिक्त क्षेत्रीय विस्तारवादी मंसूबों के लिए सामरिक तैयारी – यही है शासक वर्ग का "राष्ट्रवादी प्रोजेक्ट")। सेना राज्यसत्ता का बुनियादी अंग है। राज्यसत्ता की "वर्गोपरि तटस्थता" की छवि बनाये रखने के लिए भी सेना की शुचिता के मिथक को बनाये रखना ज़रूरी है। 2010 में भ्रष्टाचार के भाण्डे जब फूटने लगे तो सेना में व्याप्त भ्रष्टाचार भी बेनक़ाब हो गया। आदर्श हाउसिंग सोसायटी घोटाले में नेताओं-नौकरशाहों के साथ पूर्व सेनाध्यक्ष सहित कई शीर्ष सेनाधिकारियों के भी नाम आये हैं। सुकना ज़मीन घोटाले में भी कई सेनाधिकारी शामिल हैं। सेना की हज़ारों हेक्टेयर ज़मीन पर देशभर में जो अवैध क़ब्ज़े हैं, वे कैण्टोनमेण्ट के ज़िम्मेदार अधिकारियों की मिलीभगत के बग़ैर नहीं हो सकते – यह आज आम चर्चा का विषय है। 2010 में ही कुछ चैनलों के स्टिंग ऑपरेशन में वर्दी, राशन व अन्य सामानों की सप्लाई में कमीशनख़ोरी के मामले उजागर हुए। मातहत महिला अधिकारियों और कर्मचारियों के यौन उत्पीड़न के कई मामले पिछले दो वर्षों के दौरान चर्चा में आ चुके हैं।

साल के अन्त में एक और घोटाला सुर्ख़ियों में आया। उत्तर प्रदेश में 2004 में बीपीएल, मिड डे मील आदि कई कल्याणकारी योजनाओं के तहत बाँटे जाने के लिए प्राप्त अनाज 42,0249 वैगनों के ज़रिये राज्य से बाहर कालाबाज़ारियों को बेच दिया गया और देश से बाहर नेपाल और बांग्लादेश भेज दिया गया। यह घोटाला 90,000 करोड़ रुपये का था। मुलायम सरकार काल के इस घोटाले को मायावती सरकार के अफ़सर भी जिस मुस्तैदी से दबा रहे हैं, उससे यह सन्देह ही पुख़्ता हो रहा है कि ग़रीबों के हिस्से के अनाज की यह कालाबाज़ारी और तस्करी आज भी जारी है। भ्रष्टाचार के ऐसे ही आरोपों से कर्नाटक के मुख्यमन्त्री येदियुरप्पा भी घिरे हैं और उनके प्रतिस्पर्द्धी राजनीतिज्ञ और खनन माफ़िया रेड्डी बन्धु भी।

भ्रष्टाचार के इस पिरामिड में जो ऊपर और मध्यवर्ती संस्तरों के नेता-अफ़सर-मीडियाकर्मी हैं, वे राष्ट्रीय संसाधनों की लूट की छूट देने की एवज में कॉरपोरेट घरानों से कमीशन पाते हैं और सार्वजनिक क्षेत्र की सम्पदा की स्वयं लूट-खसोट करते हैं। इस लूट का सारा बोझ मेहनतकश जनता ही उठाती है। पूँजीपति घूस और कमीशन को मज़दूर से निचोड़े जाने वाले अधिशेष से जोड़ लेते हैं और राष्ट्रीय संसाधनों को लूटने के लिए सालाना करोड़ों लोगों को उनकी जगह-ज़मीन से उजाड़ देते हैं। जो सार्वजनिक क्षेत्र की लूट है वह भी जनता को ही निचोड़ती है, क्योंकि समूचा सार्वजनिक क्षेत्र जनता की गाढ़ी कमाई से ही खड़ा किया गया है। लेकिन बात यहीं ख़त्म नहीं होती। भ्रष्टाचार के पिरामिड में जो नीचे के पायदान पर खड़े छुटभैये अफ़सर और दफ़्तरों के रिश्वतख़ोर बाबू हैं, वे हर छोटे-मोटे काम और बुनियादी सेवाओं के लिए आम लोगों से रिश्वत

(पेज 14 पर जारी

पंजाब सरकार ने बनाये दो ख़तरनाक काले क़ानून

पूँजीवादी हुक्मरानों को सता रहा है जनान्दोलनों का डर

देश की पूँजीवादी व्यवस्था के लिए अब जनतन्त्र-जनतन्त्र का खेल खेलना कितना कठिन होता जा रहा है इसका अन्दाज़ा पंजाब विधानसभा में अक्तूबर में पास किये गये दो बेहद ख़तरनाक क़ानूनों से लगाया जा सकता है। ये क़ानून जनता की अन्याय के ख़िलाफ़ आवाज़ बुलन्द करने की रही सही आज़ादी पर भी प्रतिबन्ध लगाने की एक कोशिश है। साफ़ दिखायी देता है कि देश के पूँजीवादी हुक्मरान अब जनता को कुछ भी बेहतर देने के क़ाबिल नहीं रह गये हैं। जनान्दोलनों का भूत उनका हर वक़्त पीछा कर रहा है। आइये, ज़रा ख़ुद ही अन्दाज़ा लगाइये कि देश के हुक्मरान आने वाले दिनों से कितने भयाक्रान्त हैं।

पंजाब सरकार ने जो ये दो काले क़ानून पास किये हैं, उनमें से पहला है – 'पंजाब सार्वजनिक और निजी जायदाद नुक़सान (रोकथाम) क़ानून–2010', जो यह कहता है कि अब किसी भी जनसंगठन या जनसभा, किसी शान्तिपूर्ण प्रदर्शन, मार्च या जुलूस आयोजित करने से पहले ज़िला मजिस्ट्रेट या कमिश्नर से अनुमति लेनी ज़रूरी है। बिना अनुमति ऐसा करना ग़ैरक़ानूनी होगा और आयोजकों को 5 वर्ष की सज़ा और 30,000 रुपये का जुर्माना देना पड़ सकता है। इस तरह अब पंजाब में यह क़ानून जुलूसों-प्रदर्शनों को ज़िला मजिस्ट्रेट या पुलिस कमिश्नर की इच्छा पर छोड़ देता है। वे अनुमति दें या न दें यह उनकी मर्ज़ी होगी। अगर वे अनुमति दे भी देते हैं तो भी सम्बन्धित पुलिस अफ़सर प्रदर्शन का रूट व अन्य शर्तें तय करेगा। ये शर्तें क्या होंगी? क़ानून में ऐसा कुछ नहीं कहा गया है। स्पष्ट ही है कि ये शर्तें प्रदर्शन में शामिल होने वालों की संख्या, तारीख़, समय, स्थान, झण्डों, नारों, बैनरों, भाषणों आदि से सम्बन्धित होंगी। प्रदर्शन के दौरान होने वाली किसी भी तरह की गड़बड़ी का ज़िम्मा आयोजकों पर डाल दिया गया है। उन्हें लिखित गारण्टी देनी होगी कि प्रदर्शन शान्तिपूर्ण होगा। आयोजकों को अपने वालण्टियर तैनात करने होंगे। अगर किसी सार्वजनिक या निजी सम्पत्ति को नुक़सान पहुँचता है तो आयोजकों, वालण्टियरों, और अन्य प्रदर्शनकारियों को तीन वर्ष की क़ैद और 20,000 रुपये जुर्माना हो सकता है। साथ ही, पहले पुलिस को रैलियों, प्रदर्शनों, जुलूसों आदि की वीडियोग्राफ़ी करने की क़ानूनी मनाही थी लेकिन अब उन्हें यह अधिकार भी दे दिया गया है।

इस विशेष हथियारबन्द ग्रुप का डायरेक्टर किसी भी अन्य महक़मे के अफ़सर या कर्मचारी से सहायता ले सकता है। अगर वह अफ़सर या कर्मचारी मदद देने से इनकार करता है तो वह सिविल सर्विसेज़ रुल्स के तहत सज़ा का भागीदार होगा।

दूसरा क़ानून 'पंजाब विशेष सुरक्षा क़ानून–2010' है। यह क़ानून "राष्ट्र-विरोधी" ताक़तों से निपटने के लिए बनाया गया है। राष्ट्र-विरोधी होने की परिभाषा में यह क़ानून कहता है कि ग़ैरक़ानूनी कार्रवाई या ग़ैरक़ानूनी कार्रवाई को प्रोत्साहित करने वाली कार्रवाई राष्ट्र-विरोधी कार्रवाई है! यानी जिसने क़ानून तोड़ा या क़ानून तोड़ने के लिए प्रोत्साहित किया वह देशद्रोही हो जायेगा! इस क़ानून के तहत पंजाब में एक विशेष हथियारबन्द ग्रुप (फ़ोर्स) खड़ी की जायेगी, जो इन "राष्ट्र विरोधियों" को क़ाबू करेगी। ये विशेष हथियारबन्द ग्रुप कभी भी किसी भी नागरिक को झूठा केस बनाकर या संगठनों पर झूठे केस बनाकर राष्ट्र-विरोधी क़रार दे सकता है और मुक़दमे में फँसा सकता है। इस क़ानून के तहत वह व्यक्ति जिसके जीवन को बहुत ख़तरा है, उसे और उसके नजदीक़ी परिवार को सुरक्षा मुहैया करवायी जायेगी। सुरक्षा के नाम पर अगर उपरोक्त विशेष ग्रुप के किसी आदमी द्वारा किसी को गोली भी मार दी जाती है तो उस पर किसी प्रकार का कोई मुक़दमा नहीं चलाया जायेगा।

अब आप अन्दाज़ा लगाइये कि पंजाब में क्या होने जा रहा है। क्या यह अब बहस का मुद्दा रह गया है कि ऐसे क़ानून शान्ति व्यवस्था बनाये रखने के लिए नहीं, सुशासन या साधारण जनता के जानमाल की रक्षा के लिए नहीं बल्कि लुटेरी अमीरशाही के हित में बनाए जाते हैं। क्या पहले ही पुलिस के घोर जनविरोधी चरित्र के बारे में किसी को कोई शक था? पहले ही क़ानूनी और उससे भी अधिक ग़ैरक़ानूनी ढंग से जनता पर पुलिस जो ज़ोर-ज़ुल्म बरपा कर रही है क्या वही अपनेआप में कम था? ये क़ानून ज़ोर-ज़ुल्म को क़ानूनी रूप देने के सिवा और कुछ नहीं करते। **इन क़ानूनों के ज़रिये पुलिस को जनता का दमन करने के लिए बर्बर फ़ौजी ताक़त प्रदान की जा रही है। इस क़ानून के तहत अगर कोई व्यक्ति अन्याय के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाना चाहता है तो उसे अन्याय करने वालों से ही अनुमति लेनी होगी! अगर अनुमति नहीं ली जाती तो उसे देश-विरोधी, देशद्रोही करार दिया जा सकता है!!**

उदाहरण के तौर पर अगर पुलिस किसी को नाजायज़ तौर पर हिरासत में लेती है तो इसके ख़िलाफ़ प्रदर्शन के लिए लोगों को पुलिस से ही आज्ञा लेनी होगी। अगर आप बिना आज्ञा पुलिस के इस अन्याय के ख़िलाफ़ प्रदर्शन करते हैं तो आप देश विरोधी हैं। साफ़ है कि ग़रीबी, भुखमरी, बेरोज़गारी, महँगाई की शिकार मेहनतकश जनता को अपनी लूट, शोषण, दमन, अन्याय के ख़िलाफ़ एकजुट होकर अपने आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक अधिकारों के लिए संघर्ष करने से रोकने के लिए ही ये काले क़ानून बनाये गये हैं। इस मुनाफ़ाख़ोर व्यवस्था के संकट इतने बढ़ चुके हैं कि वह जनतन्त्र का मुखौटा भी उतार फेंकने के लिए विवश हो गयी है।

यह व्यवस्था उत्पीड़ित जनता को अपनी असन्तुष्टि, आक्रोश व्यक्त करने के जनतान्त्रिक तरीक़े भी नहीं देना चाहती। लेकिन इतिहास बताता है कि काले क़ानूनों के द्वारा जनता की संगठित इच्छाशक्ति को कभी दबाया नहीं जा सका है। लाठी, गोली, जेल से कभी भी मेहनतकश लोगों की आवाज़ दबाई नहीं जा सकती। पर इतिहास से हुक्मरानों ने शायद आज तक कोई सबक़ नहीं सीखा है!

इन घोर जनविरोधी क़ानूनों के ख़िलाफ़ हर इन्साफ़पसन्द आदमी को आवाज़ बुलन्द करनी होगी।

● **लखविन्दर**

यू.आई.डी. : जनहित नहीं, शासक वर्ग के डर का नतीजा

भारत सरकार की यूनियन कैबिनेट की मीटिंग में इस वर्ष पहली अक्तूबर को यूनीक आईडेण्टीफ़िकेशन अथॉरिटी आफ़ इण्डिया का गठन किया गया। इसके तहत भारत सरकार हर नागरिक के लिए एक अनन्य पहचान कार्ड (यूनीक आईडेण्टिटी कार्ड) बनायेगी। यह कार्ड इलेक्ट्रॉनिक होंगे। इनके लिए नागरिकों की निजी जानकारियाँ भारत सरकार की उपरोक्त संस्था के पास इकट्ठा की जायेंगी। इस अभियान का नाम 'आधार' रखा गया है। भारत सरकार झूठे दावे कर रही है कि देश के नागरिकों के बारे में सारी जानकारियाँ एक जगह एकत्रित करने और उन्हें यू.आई.डी. जारी करने के अनेक फ़ायदे हैं। लेकिन सरकार का यह अभियान नागरिकों के निजी जीवन के संवेदनशील पक्षों में दख़लअन्दाज़ी की ख़तरनाक साज़िश है।

भारत सरकार और यू.आई.डी.ए.आई. के अध्यक्ष नन्दन निलेकणी का दावा है कि इस अभियान से बहुत विकास होगा, क्योंकि लोगों को इससे अपनी पहचान का एक ऐसा पक्का साधन मिल जायेगा जिसके प्रयोग से वे बुनियादी सेवाएँ प्राप्त कर सकेंगे। यह दावा किया जा रहा है कि इस योजना से सरकार की जन-कल्याणकारी योजनाओं का लाभ उठाने में लोगों को काफ़ी आसानी हो जायेगी और जनता के लिए जारी किये जाने वाले धन में घपलेबाज़ी बन्द होगी। सरकार के ये दावे सरासर नाजायज़ व झूठे हैं। "जन-कल्याणकारी योजनाओं" का फ़ायदा न ले पाने और जारी किये जाने वाले फ़ण्डों में घपलेबाज़ी की वजह यह नहीं है कि लोग अपनी पहचान सिद्ध नहीं कर पाते। इसका सीधा कारण व्यवस्था पर कुछ शक्तिशाली व्यक्तियों का नियन्त्रण होना है जो सारे फ़ायदे हड़प कर जाते हैं। उदाहरण के तौर पर ग़रीबी रेखा से नीचे रह रहे वे परिवार हैं जिनके पास पक्के राशन कार्ड तो हैं फिर भी वे अनाज का पूरा कोटा पाने में असमर्थ होते हैं क्योंकि राशन डिपो के इंचार्ज उनका शोषण करते हैं। वे ग़रीबों को इस बात के लिए मजबूर करते हैं कि वे अपने कोटे से कम राशन उठायें। दलित छात्रों को दिये जाने वाले वजीफ़े ज़रूरतमन्द छात्रों को न मिल पाने का कारण यह नहीं होता कि वे अपने दलित होने का सबूत नहीं दे पाते बल्कि स्कूलों का प्रशासन और अध्यापक उनके परिजनों से जाली काग़ज़ात पर हस्ताक्षर ले लेता है। यू.आई.डी. कार्ड बनने से इन लोगों को क्या फ़ायदा होगा? इस बात का इस अनूठी योजना के कर्ता-धर्ताओं के पास कोई जवाब नहीं है।

हैरानी की बात है कि यह योजना अच्छी शासन व्यवस्था के बड़े क़दम के तौर पर प्रचारित की जा रही है। सरकार के अच्छी शासन व्यवस्था के दावों के विपरीत यू.आई.डी. योजना नागरिकों के निजी जीवन के संवेदनशील पहलुओं में ख़तरनाक दख़लअन्दाज़ी है। यह योजना नागरिकों की निजी जानकारी के खुला हो जाने का गम्भीर ख़तरा पैदा करेगी और उनके जीवन की असुरक्षा को बहुत अधिक बढ़ा देगी। यह नागरिक आज़ादी पर एक बड़ा हमला है। काग़ज़ों पर ही सही लेकिन भारतीय संविधान नागरिकों को थोड़ी निजी आज़ादी की बात तो कहता ही है। यू.आई.डी. अभियान संविधान में दर्ज निजी गुप्तता के अधिकार की स्पष्ट अवहेलना करता है। संविधान में अनेक क़ानून हैं जो नागरिकों की निजी जानकारी खुला करने पर पाबन्दी लगाते हैं। यू.आई.डी.ए.आई. को यह अधिकार प्राप्त है कि वह अदालत या राष्ट्रीय सुरक्षा के मद्देनज़र कम से कम संयुक्त सचिव पद के अधिकारी के निर्देशों पर किसी नागरिक की व्यक्तिगत जानकारी खुला कर सकती है। लेकिन इससे पहले मौजूद भारतीय क़ानूनों के तहत तो ऐसा केन्द्र या प्रान्त के गृह सचिव के आदेशों पर ही किया जा सकता था। यू.आई.डी. योजना लागू होने से व्यवस्था में अधिक ताक़त रखने वाले व्यक्तियों द्वारा दूसरों के जीवन-सम्बन्धी निजी जानकारी हासिल करने और उसका दुरुपयोग करने के गम्भीर ख़तरे उत्पन्न हो जायेंगे। हमारे देश की शासन व्यवस्था में इसका दुरुपयोग होना तय बात है जिसकी वजह से नागरिकों की ज़िन्दगी और उनकी सुरक्षा का ख़तरा भी बढ़ जायेगा। जनगणना के तहत जुटाई जाने वाली जानकारी भी यू.आई.डी.ए.आई. को मुहैया करवायी जायेगी। जबकि जनगणना क़ानून के मुताबिक़ तो किसी नागरिक से सम्बन्धित यह जानकारी जाँच-पड़ताल या सबूत के तौर पर इस्तेमाल की ही नहीं जा सकती है।

केन्द्रीकृत निजी जानकारियों का दुरुपयोग नहीं होगा इसकी गारण्टी कोई भी सरकार नहीं कर सकती है। इसमें शक की कोई गुंजाइश ही नहीं है कि राजनीतिक विरोधियों ख़ासतौर पर समाज को शोषणमुक्त बनाने के लिए जूझ रहे नागरिकों आदि के ख़िलाफ़ इनका जमकर इस्तेमाल किया जायेगा। यह गम्भीर मसला भी ध्यान देने लायक है कि नागरिकों के बारे में जुटायी जाने वाली यह सारी जानकारी कम्प्यूटरों में रखी जानी है और सरकार के पास इसके पुख़्ता इन्तजाम भी नहीं

दावों के विपरीत यू.आई.डी. योजना नागरिकों के निजी जीवन के संवेदनशील पहलुओं में ख़तरनाक दख़लअन्दाज़ी है और इससे जनता का निजी जानकारी गोपनीय नहीं रहेगा और उनकी जिंदगी अधिक असुरक्षित हो जाएगी

हैं कि इण्टरनेट के ज़रिये चोरी करने वाले 'हैकर' उन जानकारियों को चुरा न सकें। हैकर न सिर्फ़ जानकारी चुरा सकते हैं बल्कि जानकारी में हेरफेर भी कर सकते हैं और पूरी दुनिया में कोई भी ऐसी कम्प्यूटर प्रणाली नहीं है जो 'हैकिंग' (इण्टरनेट के ज़रिये चोरी) करने के नित नये तरीक़े ईजाद करने वाले हैकरों के आक्रमण से पूरी तरह सुरक्षित हो। हाल ही में विकीलीक्स वेबसाइट द्वारा अत्यधिक सुरक्षित अमेरिकी कम्प्यूटरों पर रखे दुनियाभर के देशों के अमेरिकी दूतावासों के राजनयिकों के गुप्त संचार सार्वजनिक रूप से जारी किये जाने के बाद से कम्प्यूटरों पर रखी सूचनाओं की सुरक्षा एक बार फिर सन्देह के घेरे में आ गयी है। आज तक दुनिया का कोई ऐसा कम्प्यूटर नहीं है जो हैकिंग से पूरी तरह सुरक्षित होने की गारण्टी देता हो। साथ ही जानकारी को बिखराकर रखने के बजाय एक ही कम्प्यूटर पर ढेर सारी जानकारी इकट्ठा होने से उसके दुरुपयोग की सम्भावना और अधिक बढ़ जाती है।

उल्लेखनीय तथ्य यह भी है कि भारत सरकार की इस योजना का एक गुप्त दस्तावेज़, गुप्त दस्तावेज़ों को सार्वजनिक करने वाली वेबसाइट विकीलीक्स पर प्रकाशित भी हो चुका है। कमाल की बात यह है कि लीक हुआ यह गुप्त दस्तावेज़ स्वयं ही यह बात मानता है कि नागरिकों के बारे में जुटायी जाने वाली जानकारी के लीक हो सकने और उसमें गड़बड़ी हो सकने की सम्भावनाएँ हैं। इसके बाद इस मुद्दे पर और कुछ कहने की ज़रूरत ही नहीं रह जाती।

वैसे भी यू.आई.डी. के ज़रिये कम से कम 15 करोड़ लोग अपनी पहचान साबित नहीं कर पायेंगे। यू.आई.डी. में हाथों की उँगलियों के निशान भी शामिल किये जायेंगे। खेती-बाड़ी, निर्माण, और अन्य प्रकार के हाथों से किये जाने वाले कामों में लगे लोगों की उँगलियाँ घिस जाती हैं। उनकी उँगलियों के निशान धुँधले पड़ जाते हैं जिन्हें सेंसर उठा नहीं पायेंगे। सेंसर पर उँगली का कम या अधिक दबाव,

(पेज 11 पर जारी)

अयोध्या फ़ैसला : मज़दूर वर्ग का नज़रिया

(अन्तिम किस्त)

● अभिनव

फ़ैसले का सर्वहारा विश्लेषण

अब इस फ़ैसले पर भी एक निगाह डाल ली जाये। इस फैसले पर पूँजीवादी मीडिया लोटपोट हो गया है। वह इसे भारतीय सेक्युलरिज़्म और लोकतन्त्र की विजय बतला रहा है। ज़ाहिर है, पूँजीवादी मीडिया अपना फ़र्ज़ अदा कर रहा है – पूँजीवाद के पक्ष में जनता की आम राय बना रहा है। अब यह एक दीगर बात है कि वह जो बोल रहा है, सच्चाई उसके बिल्कुल विपरीत है! चूँकि फ़ैसले में विवादित भूमि को तीन बराबर हिस्सों में बाँटकर तीन पक्षों को देने की बात की गयी है, इसलिए इसे एक ऐसे फ़ैसले के रूप में देखा जा रहा है जो साम्प्रदायिक भाईचारे को बनाये रखने के लिए दिया गया है और यह भी कहा जा रहा है कि इससे धार्मिक वैमनस्य का ख़ात्मा होगा। लेकिन वास्तव में यह फ़ैसला बहुसंख्यावादी, अतार्किक और साम्प्रदायिकता के पक्ष में जाकर खड़ा होता है। वास्तव में, यह बाबरी मस्जिद ढहाने वाली साम्प्रदायिक फ़ासीवादी ताक़तों को वस्तुगत तौर पर सही ठहराता है और दोषमुक्त करता है। अनकहे तौर पर यह फ़ैसला कहता है कि चूँकि एक हिन्दू धार्मिक स्थल के खण्डहर पर मस्जिद का निर्माण किया गया था, इसलिए मस्जिद को ढहाना सही था। इस पूरे फ़ैसले में बाबरी मस्जिद को फ़ासीवादी भीड़ द्वारा ढहाये जाने की निन्दा या भर्त्सना कहीं भी नहीं की गयी है। यह अपने आप में कई बातों को स्पष्ट कर देता है। आइये, अब इस फ़ैसले के सभी पहलुओं पर एक नज़र डालें।

अयोध्या पर फ़ैसला देने वाली इलाहाबाद उच्च न्यायालय की लखनऊ बेंच के तीन सदस्य थे – जस्टिस ख़ान, जस्टिस अग्रवाल और जस्टिस शर्मा। जस्टिस ख़ान ने अपने निर्णय में कहा कि बाबरी मस्जिद के निर्माण के लिए किसी मन्दिर को ढहाया नहीं गया था, हालाँकि जिस जगह पर उसे बनाया गया वहाँ किसी हिन्दू पूजा स्थल का खण्डहर था। पहले हिन्दू यह मानते थे कि जिस पूरे परिसर में मस्जिद है वहीं कहीं राम का जन्म हुआ था। लेकिन 1949 के कुछ दशक पहले से ही यह बात की जाने लगी कि राम का जन्मस्थल मुख्य गुम्बद के नीचे है। उसके बाद से यह एक संयुक्त पूजा-स्थल बन गया, जहाँ हिन्दू और मुसलमान दोनों ही अपनी पूजा और नमाज़ करते थे। इसीलिए इसे तीन हिस्सों में बाँट दिया जाना चाहिए।

जस्टिस अग्रवाल ने कहा कि इस बात का कोई प्रमाण मौजूद नहीं है कि बाबर द्वारा या उसके किसी मातहत द्वारा किसी मस्जिद का निर्माण करवाया गया था। बस इतना दावे से कहा जा सकता है कि 1776 के पहले से मस्जिद वहाँ मौजूद थी। इसके अतिरिक्त, रामलल्ला की मूर्तियाँ इस ढाँचे के भीतर प्रकट नहीं हुई थीं, बल्कि उन्हें वहाँ 23 दिसम्बर 1949 को रखा गया था। जस्टिस शर्मा का कहना था कि वहाँ पर मस्जिद का निर्माण इस्लाम के सिद्धान्तों का उल्लंघन करके किया गया था और जिस ढाँचे को गिराया गया उसे मस्जिद माना ही नहीं जा सकता है। कुल मिलाकर, पूरी बेंच ने यह निर्णय दिया कि पूरी विवादित ज़मीन को हिन्दू पक्ष, मुसलमान पक्ष और निर्मोही अखाड़े के बीच तीन बराबर-बराबर हिस्सों में बाँट दिया जाना चाहिए और बेंच ने 2-1 के बहुमत से यह माना कि चूँकि हिन्दू राम के जन्मस्थान को मुख्य गुम्बद के नीचे मानते हैं इसलिए मुख्य गुम्बद के नीचे वाली जगह को हिन्दुओं को सौंप दिया जाना चाहिए।

अगर इस फ़ैसले पर ग़ौर करें तो हम पाते हैं कि इस फ़ैसले ने मस्जिद गिराये जाने के कृत्य को पूरी तरह से दोषमुक्त कर दिया है। पूरे फ़ैसले में एक जगह भी उस साम्प्रदायिक फ़ासीवादी भीड़ और भगवा गिरोह के सरगनाओं की निन्दा नहीं है या उन्हें दोषी नहीं ठहराया गया है, जिन्होंने उस ऐतिहासिक इमारत को सारे मीडिया और सशस्त्र बलों के सामने मिट्टी में मिला दिया था।

दूसरी बात, जो भारतीय न्यायपालिका के सेक्युलर चरित्र पर सवालिया निशान खड़ा करती है वह है इस फ़ैसले में पुरातात्विक प्रमाणों की जगह बहुसंख्यक हिन्दू आबादी की आस्था को महत्त्व देना। वैसे इस बात का जमकर प्रचार किया जा रहा है कि दो न्यायाधीशों ने गुम्बद के नीचे के स्थान को राम का जन्मस्थान क़रार दिया है, लेकिन यह नहीं बताया जा रहा है कि इसके लिए पुरातत्व विभाग की पूरी रिपोर्ट को आधार नहीं बनाया गया है, बल्कि हिन्दुओं की आस्था को आधार बनाया गया है। धार्मिक बहुसंख्या की आस्था को एक न्यायिक निर्णय का आधार बनाया गया है। प्रसिद्ध इतिहासकार डी.एन. झा कहते हैं कि एक न्यायिक निर्णय में आस्था को स्थान देने का कोई अर्थ नहीं है। यह पुरातत्वशास्त्र का मसला था, धर्मशास्त्र का नहीं। और अगर धार्मिक आस्था के आधार पर ही निर्णय देना था तो न्यायपालिका ने पुरातत्व विभाग को वहाँ खुदाई करने का आदेश क्यों दिया? **पुरातत्व विभाग की रिपोर्ट बताती है कि जिस जगह पर मस्जिद थी वहाँ पहले किसी हिन्दू पूजास्थल के अवशेष थे। लेकिन यह दावे से नहीं कहा जा सकता कि वह कोई मन्दिर था या किसी घर के अन्दर का पूजा-स्थल। दूसरी बात, संघ के भोंपू यह क्यों नहीं बताते कि उसी पुरातात्विक स्थल से क़ब्र और हड्डियाँ भी मिली हैं। अब किसी मन्दिर के भीतर क़ब्र या हड्डी का कैसा अस्तित्व? इसलिए यह भी दावे से कह पाना मुश्किल है कि वहाँ कोई पूजा-स्थल था भी या नहीं। या फिर वह किसी मिश्रित रिहायश की जगह थी जहाँ हिन्दू और मुसलमान दोनों ही रहते थे और इसीलिए दोनों की रिहायश के प्रमाण मिल रहे हैं। दो न्यायाधीशों ने पुरातत्व विभाग की रपट के अपने मन से चुने गये कुछ हिस्सों के आधार पर फ़ैसला सुना दिया कि रामलल्ला का जन्मस्थान गुम्बद के नीचे है। यह पूरे निर्णय की निष्पक्षता पर संगीन सवाल खड़े करता है।** जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय की पुरातत्ववेत्ता सुप्रिया वर्मा जो कि उस टीम की प्रेक्षक थीं जिसने बाबरी मस्जिद वाली जगह की खुदाई की, कहती हैं कि न्यायाधीशों ने पुरातत्व विभाग के नतीजों का इस्तेमाल नहीं किया है। वे कहती हैं कि ऐसा लगता है कि न्यायाधीश स्वयं ही पुरातत्व विभाग की खोज से सन्तुष्ट नहीं थे। भारत के पूर्व सॉलिसिटर जनरल टी.आर. अन्ध्यारुजीना ने फ़ैसले की निष्पक्षता पर सवाल उठाते हुए कहा कि ज़मीन के बँटवारे का सवाल ही नहीं उठता, अगर मस्जिद को ढहाया नहीं गया होता। मस्जिद ढहाये जाने से पहले से यह मुक़दमा चल रहा था। इसलिए कोई फ़ैसला तब तक नहीं दिया जा सकता था जब तक कि यथास्थिति को बहाल नहीं किया जाता, जिसे साम्प्रदायिक भीड़ ने संघ के नेतृत्व में बिगाड़ डाला था। यानी कि मस्जिद के ग़ैर-क़ानूनी तरीक़े से गिराये जाने पर फ़ैसला दिये बग़ैर ज़मीन के बँटवारे का सवाल ही नहीं पैदा होता है।

स्पष्ट है कि यह फ़ैसला पुरातात्विक प्रमाण को ध्यान में रखकर नहीं बल्कि धार्मिक बहुसंख्या की आस्था को ध्यान में रखकर दिया गया है। यह भारतीय न्यायपालिका की धर्मनिरपेक्षता पर गहरा सवाल खड़ा करता है।

हमारा दृष्टिकोण क्या हो?

जहाँ तक एक सही सर्वहारा दृष्टिकोण का प्रश्न है, हमें इस सवाल के जाल में फँसना ही नहीं चाहिए कि राम थे या नहीं? अगर थे तो उनका ठीक-ठीक जन्मस्थल कहाँ है? बाबरी मस्जिद मन्दिर को तोड़कर बनी थी या नहीं? क्योंकि ऐसे सवाल वास्तव में सवाल हैं ही नहीं। वास्तव में अगर इनको सवाल माना जाये तो हिन्दू साम्प्रदायिक ताक़तों के तर्कों पर भी सवाल खड़े किये जा सकते हैं। तमाम हिन्दू मन्दिर बौद्ध पूजा-स्थलों को तोड़कर बनाये गये। ऐतिहासिक प्रमाण बताते हैं कि अयोध्या में ही ऐसे तमाम मन्दिर मौजूद हैं जो बौद्धों का नरसंहार करके और फिर उनके पूजा-स्थलों को तोड़कर बनाये गये। तो क्या अब उन मन्दिरों को तोड़कर फिर से बौद्ध पूजा-स्थलों को बनाया जाना चाहिए? अयोध्या में ही ऐसे कम से कम एक दर्जन मन्दिर हैं जो यह दावा करते हैं कि वास्तव में वे राम का जन्मस्थल हैं। उनका क्या जवाब होगा? आज ऐसी तमाम मस्जिदें मौजूद हैं जो शायद हिन्दू धर्मस्थलों को तोड़कर या उनके अवशेष पर बनीं। तो क्या उन सबको तोड़कर वहाँ फिर से मन्दिर बनाया जाये?

हम देख सकते हैं कि सवाल वास्तव में यह है ही नहीं। इतिहास में पहले जो घटनाएँ घटित हुईं उनका हिसाब वर्तमान में चुकता नहीं किया जा सकता और न किया जाना चाहिए। इतिहास को पीछे नहीं ले जाया जा सकता और न ले जाया जाना चाहिए। आज का ज़िन्दा सवाल यह है ही नहीं। जिस देश में 84 करोड़ लोग 20 रुपये प्रतिदिन या उससे कम की आय पर जीते हों; जहाँ के बच्चों की आधी आबादी कुपोषित हो; जहाँ 28 करोड़ बेरोज़गार सड़कों पर हों; जहाँ 36 करोड़ लोग या तो बेघर हों या झुग्गियों में ज़िन्दगी बिता रहे हों; जहाँ के 60 करोड़ मज़दूर पाशविक जीवन जीने और हाड़ गलाने पर मजबूर हों; और जहाँ समाज जातिगत उत्पीड़न और स्त्री उत्पीड़न के दंश को झेल रहा हो, वहाँ मन्दिर और मस्जिद का सवाल प्रमुख कैसे हो सकता है? वहाँ इतिहास के सैकड़ों वर्ष पहले हुए अन्याय का बदला लेना मुद्दा कैसे हो सकता है, जबकि वर्तमान समाज में अन्याय और शोषण के भयंकरतम रूप मौजूद हों? और अगर यह मुद्दा है तो हर उस स्थान के सुदूरतम इतिहास तक को देखा जाना चाहिए जहाँ आज कोई मन्दिर या मस्जिद है। उसी जगह पर न जाने उससे पहले कितने क़िस्म के धर्मस्थल रहे होंगे। आप किस-किसको तोड़ेंगे और किस-किसको बनायेंगे? इस मामले पर ज़रा-सा तार्किक विचार करते ही स्पष्ट हो जाता है कि यह कितना निरर्थक, पश्चगामी और प्रतिक्रियावादी है। इतिहास को पीछे ले जाने वाली ताक़तें ही आज इसका इस्तेमाल कर रही हैं और जनता के पिछड़ेपन का और वर्ग चेतना के अभाव का लाभ उठाकर उसे भी इन मुद्दों से भरमा रही हैं। उनकी दिलचस्पी आज ग़रीब मेहनतकश आबादी के साथ हो रहे अन्याय के ख़िलाफ़ लड़ने में नहीं है जो वास्तव में इतिहास को आगे ले जाता। उनकी दिलचस्पी सुदूर अतीत में हुए किसी ऐसे अन्याय के ख़िलाफ़ लड़ने में है, जिसके बारे में अभी दावे से कहा भी नहीं जा सकता है कि वह हुआ था या नहीं। साम्प्रदायिक फ़ासीवाद ऐसी ही एक ताक़त है जो आम भारतीय जनता के बीच तार्किक दृष्टि की कमी, वर्ग चेतना की कमी, वैज्ञानिकता की कमी का फ़ायदा उठाते हुए उसे धार्मिक तर्क के आधार पर विभाजित कर देती है। पूँजीपति वर्ग के लिए यह एक बहुत बड़ी सेवा सिद्ध होता है क्योंकि यह सर्वहारा वर्ग के भी एक विचारणीय हिस्से को एक ऐसे सवाल पर ध्रुवीकृत कर देता है जो वास्तव में उसके लिए सवाल है ही नहीं।

हमें चाहिए कि हम एक सही वैज्ञानिक दृष्टि अपनाते हुए इन अनैतिहासिक और अतार्किक सवालों को दरकिनार करें और शासक वर्गों की साज़िश को समझें। वास्तव में आज की लड़ाई आज के अन्याय के ख़िलाफ़ है। आज का पूँजीवादी शोषण और अन्याय सर्वहारा वर्ग का सबसे बड़ा दुश्मन है और हमारा पूरा संघर्ष उसके ख़िलाफ़ होना चाहिए। हमें साम्प्रदायिकता के झाँसे में आकर इस मन्दिर-मस्जिद की बहस में नहीं फँसना चाहिए। हमें इस बात को समझ लेना चाहिए कि पूँजीपति वर्ग की नुमाइन्दगी करने वाली तमाम पार्टियाँ, चाहे वह कांग्रेस हो, भाजपा हो, सपा हो या बसपा, मन्दिर के मुद्दे के इर्द-गिर्द अपनी-अपनी तरह से जनता को बाँटना चाहती हैं। दरअसल, भारतीय आम जनता का एक बड़ा हिस्सा इस बात को समझने भी लगा है। यही कारण था कि इस बार इस मुद्दे पर कोई ध्रुवीकरण नहीं किया जा सका। लेकिन सैद्धान्तिक तौर पर भी हमें समाज में लगातार इस प्रतिक्रियावादी सोच पर हमला करते रहना चाहिए जो इतिहास के काल्पनिक अन्यायों के लिए आज आम मेहनतकश जनता की बलि चढ़ाना चाहती है। यह सोच मज़दूर वर्ग और पूरे इतिहास की दुश्मन है।

●

यू.आई.डी. : जनहित नहीं, शासक वर्ग के डर का नतीजा

(पेज 10 से आगे)

उँगली रखे जाने की दिशा, ज़रूरत से अधिक ख़ुश्क या चिकनी चमड़ी आदि की वजह से भी निशानों का मिलान करने में आने वाली दिक़्क़तों का ज़िक्र तो यू.आई.डी.आई.ए. के दस्तावेज़ों में भी किया गया है। यू.आई.डी. के लिए आँखों की पुतली के स्कैन अन्धे लोगों, मोतियाबिन्द के रोगियों, आँखों में निशान वाले लोगों पर नहीं किया जा सकेगा। वैसे भी उँगलियों के निशान और आँखों की पुतली के इलेक्ट्रॉनिक स्कैनरों को आसानी से धोखा दिया जा सकता है। ऐसे कारणों से ही अमेरिका, ब्रिटेन, ऑस्ट्रेलिया, चीन, कनाडा, जर्मनी जैसे देशों ने ऐसी परियोजनाओं की असफलता को देखते हुए इन्हें अव्यावहारिक, नाजायज़ और ख़तरनाक घोषित कर दिया है।

यू.आई.डी. अभियान ने भारत के तथाकथित जनतन्त्र की पोल भी खोल दी है। इस परियोजना के बारे में संसद में कोई बहस नहीं हुई। और संसद में बहस न किये जाने पर किसी विरोधी पार्टी ने कोई ऐतराज़ तक नहीं जताया। यू.आई.डी.ए.आई. के फ़ैसलों और ख़र्चों में कोई पारदर्शिता नहीं है। इसके कामों की कोई जवाबदेही तय नहीं की गयी है। इस परियोजना पर होने वाले नुक़सान के बारे में उठे सवालों का कोई जवाब नहीं दिया जा रहा है। भारत सरकार इस परियोजना पर, जिसका नागरिकों को कोई भी फ़ायदा नहीं होने जा रहा है उल्टे जिससे गम्भीर नुक़सान का ख़तरा है, बेहिसाब ख़र्च करने जा रही है। सरकार के ही अन्दाज़े के मुताबिक़ इस पर कम से कम 45 हज़ार करोड़ रुपये ख़र्च होंगे। मौजूदा वर्ष में 200 करोड़ रुपये जारी भी किये जा चुके हैं। लेकिन जनता को होने वाले नुक़सान और धन की बर्बादी से भारत के भाग्य नियन्ताओं को क्या लेना-देना है? उनकी एकमात्र फ़िक्र यही है कि जनता के ही पैसे से जनता का और अधिक शोषण कैसे किया जाये।

●

कश्मीर समस्या का चरित्र, इतिहास और समाधान

समाजवादी राज्य में ही सम्भव है कश्मीर या अन्य किसी भी राष्ट्रीयता का समाधान

लम्बे समय तक कश्मीर अराजकता की स्थिति में रहने के बाद अपेक्षाकृत सामान्यता की स्थिति में लौटता हुआ नज़र आ रहा है। लेकिन इसका अर्थ कोई भी यह नहीं लगा रहा है कि कश्मीर प्रश्न का समाधान हो गया है। सभी जानते हैं कि एक ज्वार अभी उठकर ठण्डा पड़ा है; जनता लगभग साढ़े तीन महीनों तक सड़कों पर रहने के बाद अब सुस्ता रही है; लेकिन इस उभार ने जो सवाल उठाये थे, वे अभी भी अपनी जगह पर हैं। 1954 से लेकर आज तक ऐसा अनगिनत बार हुआ है कि भारतीय राज्य के दमन की मुख़ालफ़त करने के लिए कश्मीर की आम जनता सड़कों पर उतरती रही है। कभी सेना के दमन के बूते, कभी सड़कों पर थकाकर तो कभी कूटनीति के ज़रिये जनता के उभार को शान्त करने की कोशिश की जाती रही है। लेकिन इन सबके बावजूद 56 वर्ष में कश्मीर की समस्या का समाधान नहीं हो सका है और यह एक नासूर बनती जा रही है। आख़िर कश्मीर की समस्या क्या है? क्या कारण है कि हर कुछ वर्षों के अन्तराल पर कश्मीर की जनता सड़कों पर उतर आती है?

मौजूदा संकट

कश्मीर में मौजूदा संकट की शुरुआत जुलाई महीने में सशस्त्र बलों द्वारा भीड़ को छितराने के लिए किये गये हमले में एक किशोर तुफ़ैल मट्टू की मौत के साथ हुई। तब से कश्मीर की जनता अभी हाल तक सड़कों पर थी। यह कोई उग्रवादियों की भीड़ नहीं थी। यह आम जनता थी जिनमें सशस्त्र बलों द्वारा किये जा रहे जुल्मों के ख़िलाफ़ भयंकर गुस्सा उबल रहा था। इस भीड़ में स्कूली बच्चों से लेकर अधेड़ स्त्री और पुरुष, किशोरवय लड़के और नौजवान थे। इस बात को मानने के लिए शासक वर्ग भी मजबूर हुआ कि ये आतंकवादी नहीं थे, जो सशस्त्र बलों पर पथराव कर रहे थे। मनमोहन सिंह ने इस बात पर बहुत अफ़सोस और चिन्ता जतायी कि इस भीड़ में आम जनता थी। तुफ़ैल मट्टू की मौत तो सिर्फ़ एक तात्कालिक कारण था। पिछले कई वर्षों से सशस्त्र बलों द्वारा निर्दोष नौजवानों की हत्या, महिलाओं के अपहरण और बलात्कार और यातना की घटनाओं में तेज़ी से बढ़ोत्तरी हुई है। अभी शोपियाँ में दो युवा स्त्रियों के बलात्कार और हत्या और उसके बाद दोषियों को बचाने की कोशिश में लगे राज्य और केन्द्र सरकार के कारकूनों को कोई भूला नहीं है। इसके बाद माछिल फ़र्ज़ी मुठभेड़ में कश्मीर के नौजवानों की हत्या का मसला सामने आया। ये तो कुछ अहम घटनाएँ थीं जो रोशनी में आयीं। कश्मीरी जनता को लगातार जिस तरह फ़ौजी संगीनों के साये और अपमान में जीना पड़ता है, वह किसी भी क़ौम के लिए दमघोंटू होगा। इस दमघोंटू माहौल के ख़िलाफ़ बग़ावत के तौर पर ही कश्मीरी जनता सड़कों पर थी। इस संकट की शुरुआत के बाद से कश्मीर के लोग काफ़ी हद तक सैयद अली शाह गिलानी, मसर्रत आलम और अन्द्राबी जैसे इस्लामिक कट्टरपन्थी अलगाववादी नेताओं के मुताबिक़ चल रहे थे। कश्मीर में चुनावों की तथाकथित सफलता के बाद मीडिया ने जमकर प्रचार किया था कि कश्मीर के लोगों ने भारतीय लोकतन्त्र को स्वीकार कर लिया है और ऐसा लगने लगा था कि गिलानी और मसर्रत जैसे नेताओं के दिन पूरे हो गये। लेकिन इस दावे की पोल कश्मीरी जनता के इस जनउभार के साथ खुल गयी।

भारत का खाया-पिया-अघाया "राष्ट्रवादी" और "देशभक्त" मध्यवर्ग इस पूरे दौरान भारत के प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह और गृहमन्त्री पी. चिदम्बरम को काफ़ी ऊल-जुलूल सुनाता रहा। तमाम वेबसाइटों पर जो सर्वेक्षण हो रहे थे, उसमें भारत के खाते-पीते, शिक्षित, शहरी मध्यवर्ग के लोग अपनी राय इस तरह की भाषा में दे रहे थे कि 'गिलानी को पाकिस्तान भेज दो', 'कश्मीर के पत्थर फेंकने वालों के साथ नरमी से पेश आना बन्द करो', 'पाकिस्तान को बता दो कि दूध माँगोगे खीर देंगे, कश्मीर माँगोगे चीर देंगे', 'कश्मीर के आन्दोलनकारियों से सख़्ती से पेश आये सरकार', आदि। इस मध्यवर्ग को कश्मीर की जनता की इच्छा-आकांक्षा जानने से कोई मतलब नहीं है। उसके लिए कश्मीर हर हाल में भारतीय नक्शे के भीतर होना चाहिए, चाहे इसके लिए कश्मीर के बच्चों, किशोरों और नौजवानों तक का ख़ून बहाना पड़े। राज्य की जनता की इच्छा चाहे जो भी हो, भारत 'अपना मुकुट' यानी कश्मीर अपने से अलग होने नहीं दे सकता। इस पढ़े-लिखे जाहिल मध्यवर्ग को पता नहीं है कि एक सैन्य शासन के अन्तर्गत रहने का क्या अर्थ होता है। उसे मालूम नहीं है कि कश्मीर में पिछले डेढ़ दशक में सशस्त्र बलों के हाथों 60,000 कश्मीरी अपनी जान गँवा चुके हैं और 7,000 लापता हैं। हाल ही में तमाम सामूहिक क़ब्रें बरामद हुई हैं जो इन लापता लोगों का सुराग हो सकती हैं। उन्हें नहीं पता कि इसकी कोई गिनती नहीं कि कितनी औरतों का अपहरण और बलात्कार किया जा चुका है और कितने मासूम अपाहिज हो चुके हैं। उन्हें इससे कोई सरोकार ही नहीं है। उन्हें नहीं पता कि ये मौतें उस दौर में नहीं हुई हैं जब घाटी सशस्त्र आतंकवाद का दंश झेल रही थी। 2003 से लेकर अब तक के दौर में यह सबकुछ हुआ है, जिस दौर के बारे में सरकारी आँकड़े ही बताते हैं कि घुसपैठ को ख़त्म किया जा चुका है और घाटी में कुल मिलाकर 1,000 आतंकवादी भी नहीं हैं। लेकिन आतंकवाद का यह दौर ख़त्म होने के बाद भी घाटी में आज सशस्त्र बलों के 7 लाख जवान मौजूद हैं; वहाँ ख़ुफ़िया एजेंसियाँ इस तरह से काम करती हैं, मानो वे किसी दुश्मन देश के भीतर काम कर रही हों; सड़कों पर घूमने भर से आतंकित कर देने वाली सैन्य उपस्थिति को आप देख सकते हैं। कहीं पर सेना के शासन के बारे में सुनने और उसके तहत रहने में ज़मीन-आसमान का अन्तर होता है। सेना की इस ग़ैर-ज़रूरी उपस्थिति को कश्मीर की जनता भारत द्वारा क़ब्ज़ा मानती है। यही कारण है कि आज जो

• अभिनव

कश्मीर में चल रहा है उसके निशाने पर हर वह चीज़ है जो भारत की उपस्थिति का प्रतीक है। चाहे वह स्कूल हो, सरकारी ऑफ़िस हो, सैन्य छावनी हो, पुलिस स्टेशन हो, या कोई और सरकारी इमारत।

कश्मीर के मौजूदा जनउभार के शुरू होने के साथ ही हर अख़बार के टकसाली स्तम्भ लेखक इस समस्या का हल सुझाने लगे। कोई लोहिया और जयप्रकाश नारायण द्वारा सुझाये गये समाधान की बात कर रहा था तो कोई गाँधी के सुझाये समाधान की बीन बजा रहा था। जबकि भारतीय बुर्जुआ वर्ग के ये सभी नुमाइन्दे कोई हल सुझा ही नहीं रहे थे। मौखिक तौर पर कश्मीरी जनता के आत्मनिर्णय की बात करते हुए भी, अगर इनके हाथ में सत्ता आती तो निश्चित तौर पर ये कश्मीर को भारत में शामिल रखने के लिए हर सम्भव क़दम उठाते, शायद वे सभी क़दम जो आज भारतीय राज्य का दमनकारी तन्त्र उठा रहा है। कश्मीर की समस्या के ऐसे समाधान जो एक अख़बार के सम्पादकीय पन्ने पर ही सिमट जाते हैं, कोई अर्थ नहीं रखते। कश्मीर के राष्ट्रीय प्रश्न का हल कैसे होगा यह जानने के लिए इस समस्या के इतिहास पर एक संक्षिप्त निगाह डालनी होगी।

कश्मीर समस्या : इतिहास के आईने में

कश्मीर का भारत में विलय किसी सामान्य स्थिति में नहीं हुआ था। अंग्रेज़ों की साज़िश, नेहरू के अड़ियल रुख़ और जिन्ना द्वारा साम्प्रदायिक अवस्थिति अपनाये जाने के कारण भारत का विभाजन साम्प्रदायिक आधार पर किया गया था। कश्मीर एक मुसलमान-बहुल राज्य था लेकिन वहाँ का शासन एक हिन्दू राजा के हाथ में था। कश्मीर ऐतिहासिक रूप से साम्प्रदायिकता से काफ़ी हद तक मुक्त रहा था। कश्मीर की जनता में जिस नेता की उस समय सर्वाधिक पकड़ थी, वह थे शेख़ अब्दुल्ला। शेख़ अब्दुल्ला साम्प्रदायिक आधार पर पाकिस्तान में शामिल होने को लेकर सशंकित थे और एक इस्लामिक सिद्धान्तों पर बने राज्य में शामिल नहीं होना चाहते थे। आज़ादी के तुरन्त बाद पाकिस्तान द्वारा समर्थित क़बायली हमले से शेख़ अब्दुल्ला पाकिस्तान में शामिल होने पर विचार के स्पष्ट रूप से विरोधी हो गये। लेकिन भारतीय संघ में शामिल होने को लेकर भी उनकी अपनी शंकाएँ थीं। कश्मीरी जनता बिना शर्त भारतीय संघ में शामिल होने को लेकर भी असमंजस में थी और अपनी अलग राष्ट्रीय पहचान को लेकर सचेत थी। काफ़ी चिन्तन-मनन और राजनीतिक उथल-पुथल के बाद 1949 में कश्मीर ने सशर्त भारतीय संघ में होना स्वीकार किया। कश्मीर इस शर्त पर भारतीय संघ में शामिल हुआ कि विदेशी मसलों, सुरक्षा और मुद्रा चलन के अतिरिक्त भारतीय राज्य कश्मीर की स्वायत्तता को बरक़रार रखेगा और अन्य सभी मसलों पर निर्णय लेने की शक्ति कश्मीर की सरकार के हाथ में होगी। इसके लिए भारतीय संविधान में विशेष धारा 370 को शामिल किया गया। यह इस बात का प्रावधान करती थी कि कश्मीर का मुख्यमन्त्री प्रधानमन्त्री कहलायेगा और राज्यपाल गवर्नर। कश्मीर के आन्तरिक मामलों में कश्मीर की सरकार को स्वायत्तता प्रदान की जायेगी। इस तरह से भारतीय संविधान के दायरे के भीतर कश्मीर को एक स्वायत्त राज्य के रूप में शामिल किया गया। लेकिन नेहरू को संघीयता का यह ढाँचा स्वीकार्य नहीं था। भारत और पाकिस्तान के विभाजन में अक्सर सारी ज़िम्मेदारी जिन्ना के सिर डाल दी जाती है, लेकिन कम ही लोग यह जानते हैं कि क्रिप्स मिशन के बाद जिन्ना ने अलग पाकिस्तान की माँग छोड़ने का प्रस्ताव नेहरू के सामने रखते हुए कहा था कि एक ऐसे भारतीय संघ में रहना उन्हें मंजूर है जिसमें मुस्लिम-बहुल राज्यों को सापेक्षिक स्वायत्तता हो। लेकिन एक मज़बूत केन्द्रीय राज्य मशीनरी के पक्ष में खड़े नेहरू ने इस प्रस्ताव को नामंज़ूर कर दिया। इस मुद्दे पर नेहरू की गाँधी के साथ भी असहमति थी। पटेल और नेहरू हर क़ीमत पर एक मज़बूत केन्द्र चाहते थे, चाहे इसके लिए विभाजन का दंश ही क्यों न झेलना पड़े।

कश्मीर के शामिल होने पर कश्मीरी जनता के जनमत संग्रह का भी वायदा किया गया था, जिसे कभी निभाया नहीं गया। इसके लिए नेहरू का तर्क यह था कि संयुक्त राष्ट्र द्वारा 1947-48 में पाकिस्तान-समर्थित हमले के बाद यह तय किया गया था कि पाकिस्तान कश्मीर के उत्तर-पश्चिमी हिस्से से अपनी सेनाएँ वापस बुलायेगा और उसके बाद जनमत संग्रह कराया जायेगा। पाकिस्तानी शासकों ने अपना क़ब्ज़ा छोड़ा नहीं और इसके कारण जनमत संग्रह कराने से भारतीय शासकों ने इनकार कर दिया। लेकिन भारत और पाकिस्तान की क्षेत्रीय महत्त्वाकांक्षाओं में पिस गया कश्मीरी अवाम।

1953 में नेहरू ने शेख़ अब्दुल्ला की चुनी हुई सरकार को बर्ख़ास्त कर दिया और शेख़ अब्दुल्ला को गिरफ़्तार कर लिया और कश्मीर में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया। शेख़ अब्दुल्ला बीच में बाहर आये लेकिन जनमत संग्रह को लेकर उनकी अपेक्षाकृत नरम अवस्थिति अब भी नेहरू को स्वीकार नहीं थी। कुछ समय बाद उन्हें फिर गिरफ़्तार कर लिया गया। 1964 में शेख़ अब्दुल्ला जब रिहा हुए तब तक वे कश्मीर में जनमत संग्रह और उसकी स्वायत्तता के मसले को लेकर काफ़ी हद तक समझौतापरस्त हो चुके थे। 1970 का दशक आते-आते धारा 370 का कोई अर्थ नहीं रह गया था। भारतीय शासक वर्ग की इस असुरक्षा भावना ने, कि अगर कश्मीर की जनता को खुला हाथ दिया गया तो वह पाकिस्तान में शामिल हो सकती है, कभी भी कश्मीर की जनता को भारत में अपनी राष्ट्रीय अस्मिता के साथ शामिल नहीं होने दिया। कश्मीर की जनता अपनी इच्छा से स्वायत्तता की शर्त के साथ भारतीय संघ में शामिल हुई थी। ऐसे में भारतीय राज्य द्वारा उसके साथ ऐसे व्यवहार को कश्मीरी जनता ने एक धोखा और विश्वासघात के रूप में लिया। यही कारण है कि आज फ़ारुख़ अब्दुल्ला जैसे समझौतापरस्त भी 1953 तक की स्थिति को बहाल करने की माँग कर रहे हैं। क्योंकि इतनी माँग किये बग़ैर वे कश्मीरी जनता में अपना हर क़िस्म का आधार खो बैठेंगे। पहले ही कश्मीरी जनता का एक विचारणीय हिस्सा उन्हें गुलाम बख़्शी मोहम्मद जैसा ग़द्दार मानने लगा है। गुलाम बख़्शी मोहम्मद शेख़ अब्दुल्ला के हटाये जाने के बाद कश्मीर का मुख्यमन्त्री बना था और पूरी तरह भारतीय राज्य की कठपुतली के रूप में काम करता था।

भारत की पूँजीवादी सत्ता द्वारा किये गये इस ऐतिहासिक विश्वासघात ने कश्मीरी जनता में अलगाव की भावना को और अधिक बढ़ाया। जनमत संग्रह और स्वायत्ता की माँग को लेकर अलग-अलग समय पर अलग-अलग संगठनों ने कश्मीरी जनता के बीच काम किया और उन्हें संगठित किया। इस प्रकार की गतिविधियाँ जिस रफ़्तार से बढ़ीं, उसी रफ़्तार से भारतीय राज्य का चरित्र अधिक से अधिक दमनकारी होता गया। सशस्त्र बल विशेषाधिकार अधिनियम लागू होने के बाद कश्मीर में एक सैन्य शासन जैसी स्थिति बन गयी। इस पूरे दौर में पाकिस्तान द्वारा कश्मीर में आतंकवाद को बढ़ावा देने और धार्मिक कट्टरपन्थी आतंकवाद के बढ़ने की प्रक्रिया जारी रही। 1980 के दशक से कश्मीर में आतंकवाद एक बड़ी परिघटना के रूप में अस्तित्व में आ चुका था। इस दशक का उत्तरार्द्ध आतंकवाद की भयंकरता का उत्कर्ष था। 1989 से 1991-92 के बीच ही हज़ारों कश्मीरियों ने आतंकवाद और भारतीय राज्य के बीच के टकराव की क़ीमत अपनी जान देकर चुकायी। धार्मिक कट्टरपन्थी आतंकवाद का कश्मीरी जनता के एक हिस्से में आधार भी तैयार हुआ। सेना द्वारा अकल्पनीय दमन, हत्या, बलात्कार और अपहरण की प्रतिक्रिया में कश्मीरी घरों के नौजवान आतंकवाद के रास्ते पर जाने लगे। भारतीय राज्य द्वारा किये गये धोखे और उसके बाद कश्मीरी जनता के भयंकर दमन ने मिलकर कश्मीरी जनता के अलगाव को नयी हदों तक बढ़ा दिया था। आज़ादी या फिर पाकिस्तान में शामिल हो जाने की बात करने वाले अलगाववादी समूहों की कश्मीरी जनता के बीच ज़बरदस्त पकड़ बन चुकी थी। लेकिन इस बात की सच्चाई यह है कि इसके लिए काफ़ी हद तक भारतीय राज्य का विश्वासघात और सेना-दमन ज़िम्मेदार था। निश्चित रूप से इसमें सहायक योगदान पाकिस्तान द्वारा आतंकवादी और धार्मिक कट्टरपन्थी गतिविधियों को बढ़ावा देना भी था। एक और महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि 1970 के दशक में जनसंघ और उसके बाद संघ-समर्थित जम्मू प्रजा परिषद की साम्प्रदायिक गतिविधियों ने भी हिन्दुओं और

(पेज 13 पर जारी)

कश्मीर समस्या का चरित्र, इतिहास और समाधान

(पेज 12 से आगे)

मुसलमानों के बीच के तनाव को काफ़ी बढ़ाया। यह अनायास नहीं था कि कश्मीर में सदियों से साथ रह रहे हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच 1930 के दशक से तनाव की स्थिति बनने लगी थी। इसके लिए इस्लामिक कट्टरपन्थ और संघ की गतिविधियाँ, दोनों ही ज़िम्मेदार थीं।

अलगाववादी आतंकवाद को कुचलने के लिए भारत की सरकार ने 1980 के दशक के अन्त में एक विशाल अभियान शुरू किया। 1989 से भारतीय राज्य ने कश्मीर घाटी में आतंकवाद के विरुद्ध बड़े पैमाने पर सैन्य अभियान शुरू किया और अपनी सैन्य शक्तिमत्ता के बूते पर 1993 आते-आते आतंकवादी समूहों को काफ़ी हद तक कुचल डाला। बताने की ज़रूरत नहीं है कि यही वह समय था जिस दौरान आतंकवाद को कुचलने के नाम पर कश्मीरी जनता का भी सेना ने भयंकर दमन और उत्पीड़न किया। 1993 में भारत सरकार ने दावा किया कि कश्मीर घाटी में आतंकवाद और पाकिस्तान से होने वाली घुसपैठ को ख़त्म कर दिया गया है और अब घाटी में एक अनुमान के अनुसार केवल 600 से 1,000 सशस्त्र आतंकवादी मौजूद हैं। लेकिन आतंकवाद को कुचलने के लिए जिस ज़बर्दस्त सैन्य उपस्थिति को सही ठहराया जाता रहा था, वह इसके बाद भी मौजूद रही। सशस्त्र बल विशेषाधिकार अधिनियम भी अपनी जगह पर रहा और सेना द्वारा इसका अमानवीय दुरुपयोग जारी रहा।

1990 के दशक को अपेक्षाकृत शान्त माना जा सकता है। सभी उग्रवादी अलगाववादी गुटों को कुचलने में भारत की सरकार कामयाब रही थी। कश्मीरी जनता किसी अन्य विकल्प के अभाव में इन आतंकवादी अलगाववादियों का समर्थन करती थी। कश्मीरी जनता का एक छोटा हिस्सा सेना के दमन की प्रतिक्रिया में पाकिस्तान तक में शामिल हो जाने का समर्थन करता था। लेकिन घाटी में आतंकवादी संगठनों के दमन के बाद के दस वर्ष, यानी, 1990 का दशक तुलनात्मक रूप से एक चुप्पी का दौर रहा। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं था कि कश्मीरी जनता की आकांक्षाएँ और उसकी चाहतें ख़त्म हो चुकी थीं। भारतीय सैन्य शक्तिमत्ता के सामने आतंकवाद या सशस्त्र संघर्ष टिक नहीं सकता था, यह साबित हो चुका था। कश्मीरी जनता के अधिकांश अलगाववादी दलों को न्यूट्रलाइज़ या समाप्त किया जा चुका था। जे.के.एल.एफ़. (जम्मू एण्ड कश्मीर लिबरेशन फ़्रण्ट) की ताक़त काफ़ी कम हो चुकी थी और यासीन मलिक जैसे नेता दमन झेलने के बाद नरम पड़ चुके थे। लेकिन डेढ़ दशक बाद भारतीय शासकों की यह ख़ुशफ़हमी दूर हो चुकी है कि कश्मीर समस्या का समाधान उसने सैन्य-शक्ति से कर दिया है। नयी सहस्राब्दि के पहले दशक के मध्य से एक बार फिर से कश्मीर में उथल-पुथल शुरू हो चुकी थी।

हुर्रियत कान्फ़रेंस के नेता सैयद अली शाह गिलानी के नेतृत्व में तहरीक़-ए-हुर्रियत का आन्दोलन शुरू हो चुका था। और इस बार आन्दोलन का स्वरूप बिल्कुल भिन्न था। कश्मीरी जनता में सैन्य-दमन और अत्याचार के ख़िलाफ़ जो भयंकर असन्तोष सुलग रहा था, उसे एक मार्ग मिल गया था। निश्चित रूप से, गिलानी एक इस्लामी कट्टरपन्थी नेता हैं और कई लोग यह भी आरोप लगाते हैं कि आज़ादी या स्वायत्ता की माँग के पीछे उनकी असली मंशा पाकिस्तान में शामिल होने की है। गिलानी के नये सिपहसालार मसर्रत आलम और आसिया अन्द्राबी ने जिस क़िस्म की गतिविधियों को अंजाम दिया उससे यह शक और पुख़्ता हुआ। मसर्रत आलम और ख़ास तौर पर आसिया अन्द्राबी एक इस्लामी कश्मीरी राज्य बनाने के पक्षधर हैं। गिलानी को भारतीय राज्य से बातचीत की टेबल पर भी बैठना होता है, इसलिए वे अपने इस्लामी कट्टरपन्थ को दिखलाते हुए भी आज़ादी की बात तुलनात्मक रूप से बच-बचाकर करते हैं। लेकिन आसिया अन्द्राबी ने गिलानी के नेतृत्व में अपना राजनीतिक कैरियर शुरू ही कट्टरपन्थी गतिविधियों से किया। सबसे पहले अन्द्राबी ने औरतों पर बुरक़ा थोपने और ब्यूटी पार्लरों पर हमले से शुरुआत की। इसके बाद, उन्होंने हर उस चीज़ पर हमला किया जो आधुनिकता का प्रतिनिधित्व करती है। मसर्रत आलम ने भी अपने इस्लामी कट्टरपन्थी रुझान को खुलकर पेश किया। लेकिन साथ-साथ इन लोगों ने भारतीय सेना द्वारा किये जा रहे अत्याचारों पर जमकर हमला बोला और लोगों को इसके विरुद्ध गोलबन्द और संगठित करना शुरू किया। इस समय और कोई ऐसी ताक़त मौजूद नहीं थी जो इस रैडिकल तेवर और साहस के साथ भारतीय सेना के दमन के ख़िलाफ़ आवाज़ उठा रही हो। नतीजतन, तहरीक़ आन्दोलन के पक्ष में जनता ने अपना समर्थन जताना शुरू कर दिया। 2004-05 आते-आते इस आन्दोलन ने कश्मीर घाटी में गहरे तक अपनी जड़ें जमा ली थीं। इसका पहला बड़ा प्रमाण मिला 2009 में अमरनाथ यात्रा के लिए भूमि अधिग्रहण के ख़िलाफ़ हुए आन्दोलन में। इस आन्दोलन में काफ़ी समय बाद 'भारत वापस जाओ' के नारे जमकर लगे। लेकिन इस बार इस प्रतिरोध पर खुलकर सैन्य ताक़त का इस्तेमाल सम्भव नहीं था, क्योंकि प्रतिरोध का रूप शान्तिपूर्ण नागरिक प्रतिरोध का था। अधिक से अधिक पथराव किये गये। लेकिन कहीं भी एक भी कारतूस नहीं दागा गया। यह नया प्रतिरोध ज़्यादा आकारहीन और शक्तिशाली था। कारण यह था कि इस आन्दोलन की क़तारों में सड़क पर आप जिन चेहरों को देख सकते थे, वे कोई लश्कर-ए-तैयबा या हिज्बुल मुजाहिदीन के आतंकवादी नहीं थे, जो ए.के.-47 से लैस हों। इसमें किशोरवय के स्कूल जाने वाले लड़के, विशेष रूप से बेरोज़गार नौजवान, प्रौढ़ और अधेड़ महिलाएँ और आम जनता थी, जो भारतीय सेना के दमन और उत्पीड़न के ख़िलाफ़ अपनी नफ़रत के चलते सड़कों पर उतरी थी।

यह नया आन्दोलन जो वास्तव में एक जनउभार था, भारतीय राज्य के लिए ख़ासतौर पर काफ़ी शर्मिन्दगी पैदा करने वाला था। क्योंकि अभी कुछ समय पहले ही क़रीब 10 लाख सशस्त्र बलों की स्थिति में कश्मीर में चुनाव करवाये गये थे और कश्मीर में अस्तित्वहीन पार्टियों, जैसे कि सपा, राजद, बसपा आदि से भी पर्चे भरवा कर 60 प्रतिशत तक का मतदान करवाने में सफलता हासिल की गयी थी। इस चुनाव को भारतीय शासक वर्ग ने भारतीय लोकतन्त्र की कश्मीर में विजय के रूप में पेश किया था और खाता-पीता "राष्ट्रवादी" भारतीय मध्यवर्ग इससे काफ़ी प्रसन्न हुआ था और उसे लगा था कि कश्मीर समस्या का समाधान लगभग हो ही गया है। लेकिन 2009 में अमरनाथ यात्रा विवाद और उसके बाद शोपियाँ में दो महिलाओं के साथ सशस्त्र बलों द्वारा बलात्कार और हत्या, माछिल फ़र्जी मुठभेड़ में कश्मीरी युवकों की हत्या, और फिर जुलाई 2010 में तुफ़ैल मट्टू की सेना की गोलाबारी में मौत के बाद से कश्मीरी जनता जिस तरह से सड़कों पर है, उससे ऐसे सारे भ्रमों का निवारण हो गया है।

कश्मीर समस्या और अन्य राज्यों के राष्ट्रीय प्रश्न के समाधान का सही रास्ता : मेहनतकशों की सत्ता

स्पष्ट है कि इस बार कश्मीर का उभार एक इन्तिफ़ादा या जनविद्रोह का रूप लेकर सामने आया है। भारतीय सैन्य-दमन भी इसे हरा नहीं सकता है। सैन्य-दमन कुछ समय के लिए इसे ठण्डा कर सकता है। भारतीय शासक वर्ग भी इस बात को समझ रहा है। यही कारण है कि सैन्य समाधान की बजाय किसी राजनीतिक समाधान और इस समाधान में पाकिस्तान को भी शामिल करने की बात प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह कर रहे हैं। यह काफ़ी समय बाद है कि किसी भारतीय प्रधानमन्त्री ने खुले तौर पर कश्मीर मुद्दे के समाधान के लिए पाकिस्तान की भागीदारी आमन्त्रित की है। गिलानी की सारी माँगों को मानने के लिए भारतीय शासक वर्ग क़तई तैयार नहीं है। कश्मीर पर अपने दमनकारी रुख़ को ख़त्म करने के लिए भी भारतीय शासक वर्ग तैयार नहीं है, क्योंकि उसे भय है कि कश्मीर पर शिकंजा ढीला करते ही वह पाकिस्तान के पास चला जायेगा। लेकिन हाल में दिये गये राजनीतिक पैकेज में भारतीय शासकों ने कुछ बातें मानी हैं। गिरफ़्तार लोगों को छोड़ने की बात की गयी है और साथ ही सर्वपक्षीय प्रतिनिधिमण्डल को कश्मीर भेजा गया।

लेकिन सशस्त्र बल विशेषाधिकार क़ानून और डिस्टर्ब्ड एरियाज़ एक्ट को हटाने पर शासक वर्गों में दो-फाड़ हो गया है। भाजपा हमेशा की तरह इसके बिल्कुल ख़िलाफ़ है और अपनी दक्षिणपन्थी फ़ासीवादी लाइन के अनुसार वह कश्मीर को हमेशा की तरह अँगूठे के नीचे रखने की पक्षधर है। कांग्रेस में इस सवाल को लेकर असमंजस की स्थिति है। एक हिस्सा इसे हटाने पर विचार करने की बात कर रहा है, दूसरा इसमें संशोधन की और तीसरा पूरी तरह दक्षिणपन्थी रुख़ का समर्थन कर रहा है। संसदीय वामदल और क्षेत्रीय दलों के प्रतिनिधि बस बातचीत से हल और राजनीतिक समाधान की बात करते हैं। संसदीय वामदल सशस्त्र बल विशेषाधिकार क़ानून को हटाने का जबानी समर्थन करते हैं, लेकिन इसका कोई विशेष अर्थ नहीं है। फ़िलहाल, भारतीय शासक वर्गों की स्थिति कश्मीर की जनता को थका देने की है। अपने दमनकारी रुख़ में तो वह कोई उल्लेखनीय कमी नहीं ला रहा है लेकिन मीठी बातों की बौछार कर रहा है और साथ में कुछ प्रतीकात्मक क़दम उठा रहा है। एक बार कश्मीर के स्थिर होने पर शासक वर्ग सशस्त्र बल विशेषाधिकार क़ानून में संशोधन पर विचार वाक़ई कर सकता है। लेकिन इसका अर्थ कश्मीर समस्या का समाधान कभी नहीं हो सकता। चक्रीय क्रम में कश्मीर की जनता सड़कों पर कुछ-कुछ अन्तराल के बाद उतरती रही है और उतरती रहेगी।

सैन्य-दमन का ख़ात्मा कश्मीर में मौजूदा ढाँचे के भीतर कर पाना भारतीय शासक वर्ग की किसी भी पार्टी के लिए बहुत मुश्किल है। जो पार्टी स्वायत्ता या जनमत संग्रह की बात को मानेगी, वह पूँजीवादी राजनीति के दायरे के भीतर अपनी ही क़ब्र खोदेगी। कश्मीरी जनता की जो मूल माँगें हैं, यानी स्वायत्ता और आत्मनिर्णय का अधिकार, वे सैन्य-दमन के रास्ते से कभी ख़त्म नहीं होंगी। पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे के भीतर ये माँगें कभी मानी जायेंगी इसकी सम्भावना काफ़ी क्षीण है और कभी सैन्य-दमन और कभी जनता को सड़कों पर थका देने की रणनीति और कभी इन दोनों रणनीतियों के मिश्रण से भारतीय शासक वर्ग कश्मीर पर अपने अधिकार को कमोबेश इसी रूप में क़ायम रखने का प्रयास करता रहेगा।

यह भी सच है कि गिलानी, मसर्रत और अन्द्राबी जैसे धार्मिक कट्टरपन्थियों की कश्मीर की आज़ादी की माँग की अनुगूँज पूरे जम्मू-कश्मीर में नहीं है। यहाँ तक कि कश्मीर घाटी में भी जनता का एक विचारणीय हिस्सा उनके साथ सिर्फ़ इसलिए है क्योंकि भारतीय राज्य के दमन का कारगर विरोध करने वाली और कोई सक्षम ताक़त नहीं है। जिस समय जे.के.एल.एफ़. मौजूद था, जनता का इससे भी ज़बर्दस्त समर्थन उसे प्राप्त था और जे.के.एल.एफ़. को एक सेक्युलर विश्वसनीयता वाला संगठन माना जा सकता है। आज गिलानी की अपील इसी बात में है कि वही भारतीय राज्य के दमन का प्रतिरोध कारगर रूप से करने वाले नेता हैं। गिलानी की अलगाव की माँग का लेह-लद्दाख के बौद्धों, कारगिल के शिया मुसलमानों और जम्मू के सिख और हिन्दुओं में कोई समर्थन नहीं है। हालाँकि गिलानी और मसर्रत आलम दोनों ही बोलते हैं कि उनके आज़ाद कश्मीर में हिन्दुओं और बौद्धों और साथ ही शिया मुसलमानों को अपने तरीक़े से पूजा और जीवन की पूरी आज़ादी होगी और उनका इस्लाम इन समुदायों के लिए भी कल्याणकारी होगा, लेकिन इस पर कोई भरोसा नहीं करता। ख़ासतौर पर जब उन्हीं के संगठन की आसिया अन्द्राबी इस्लामिक कट्टरपन्थी आतंक फैलाने की गतिविधियों में संलिप्त हों। इसलिए एक बात तो साफ़ है कि आत्मनिर्णय का अधिकार पूँजीवादी दायरे के भीतर मिल पाने की सम्भावना क्षीण होती जा रही है। इसके कई कारण हैं। एक तो यह कि दुनिया भर में राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार को लेकर लड़ने वाला वर्ग रैडिकल बुर्जुआ वर्ग रहा है। आज के दौर में दुनिया भर में आत्मनिर्णय के अधिकार की लड़ाई कमज़ोर पड़ने का एक कारण यह है कि विश्व पूँजीवाद की संरचना और कार्यप्रणाली में आये बदलावों के कारण बुर्जुआ वर्ग के ढाँचे और चरित्र में कई परिवर्तन आये हैं और उसकी रैडिकल सम्भावनाएँ लगातार क्षीण हुई हैं। इसीलिए कश्मीर में रैडिकल बुर्जुआ वर्ग का कोई हिस्सा कभी संघर्ष के नेतृत्व में होता है, और फिर वह समझौतापरस्त हो जाता है। फिर कोई नया रैडिकल हिस्सा नेतृत्व में आता है, और फिर वह भी समझौतापरस्त हो जाता है। और यही प्रक्रिया जारी रहती है। दूसरी बात यह कि कश्मीर जैसी राष्ट्रीयता के संघर्ष अगर विजयी हो भी जायें तो उनके स्वतन्त्र अस्तित्व की सम्भावना कम ही होगी। ज़्यादा सम्भावना यही होगी कि ऐसा छोटा, भूमि से घिरा, सीमित प्राकृतिक संसाधनों वाला कोई देश किसी पड़ोसी ताक़तवर पूँजीवादी देश का उपग्रह राज्य बन जायेगा। यह वही समस्या है जिसका सामना भूटान, नेपाल आदि जैसे देशों को करना पड़ता है। वहाँ जनवादी और राष्ट्रीय प्रश्न के कार्यभारों को पूरा करने के लिए हो रहे जनसंघर्षों की सफलता काफ़ी हद तक भारत जैसे देशों में सर्वहारा वर्ग की मुक्ति की लड़ाई से जुड़ी होती है।

फिर आख़िर कश्मीर समस्या का समाधान क्या है? यह एक जटिल प्रश्न है। कश्मीर समस्या का समाधान और न सिर्फ़ कश्मीर समस्या का, बल्कि भारतीय संघ में राष्ट्रीयता के प्रश्न जहाँ-जहाँ मौजूद हैं, उनका समाधान एक समाजवादी राज्य के तहत ही सही तरीक़े से हो सकता है, जो इन इलाक़ों को अलगावग्रस्त कर दमन के शिकंजे में न रखे। आज से ही इन राष्ट्रीयताओं के मेहनतकश अवाम और नौजवानों के बीच क्रान्तिकारी ताक़तों को काम करना होगा और उन्हें राजनीतिक रूप से सचेत बनाते हुए पूरी व्यवस्था के परिवर्तन की लड़ाई का एक अंग बनाना होगा। उन्हें इस प्रक्रिया में ही यह यक़ीन पैदा होगा और यह समझ आयेगा कि आत्मनिर्णय का अधिकार उन्हें सही और न्यायपूर्ण रूप में तभी मिल सकता है, जब भारतीय पूँजीवादी राज्य को उखाड़ फेंका जाये और एक मेहनतकश सत्ता की स्थापना की जाये जिसमें उत्पादन, राज-काज और समाज के ढाँचे पर उत्पादन करने वाले वर्गों का हक़ हो। क्रान्तिकारी संघर्ष में इन राज्यों की जनता का साथ और भागीदारी ही इस बात को भी सुनिश्चित करेगी कि इन दमित-उत्पीड़ित राष्ट्रीयताओं को अपने आत्मनिर्णय और अपना भविष्य तय करने का हक़ मिले और इस संघर्ष की प्रक्रिया में ही एक राजनीतिक एकीकरण भी होगा, जो उन्हें एक ऐसे राज्य में अपनी पृथक राष्ट्रीय पहचान के साथ क़ायम रखने की ताक़त रखता है, जो राजनीतिक, आर्थिक, राष्ट्रीय और सांस्कृतिक शोषण, उत्पीड़न और दमन पर आधारित न हो।

राष्ट्रीयताओं के संघर्षों को पूँजीवाद-विरोधी क्रान्ति का अंग बनाना आज भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के एजेण्डे पर प्रमुखता के साथ मौजूद

(पेज 14 पर समाप्त)

संघर्ष की नयी राहें तलाशते बरगदवाँ के मज़दूर

बिगुल संवाददाता

गोरखपुर। किसी भी क़िस्म के श्रम क़ानूनों के लागू न होने और काम की बेहद बुरी दशाओं से त्रस्त बरगदवाँ औद्योगिक क्षेत्र के कई कारख़ाना मज़दूरों ने आज से क़रीब डेढ़ वर्ष पहले संगठित होने की शुरुआत की थी। अंकुर उद्योग लि., बी.एन. डायर्स कपड़ा मिल, बी. एन. डायर्स धागा मिल, माडर्न लैमिनेटर, माडर्न पैकेजिंग, लक्ष्मी साइकिल इण्डस्ट्रीज के मज़दूरों ने अलग-अलग और ज़रूरत पड़ने पर संयुक्त प्रतिरोध का रास्ता अपनाया। आन्दोलन के ज़बरदस्त दबाव के चलते मिल मालिकों को झुकना पड़ा और मज़दूरों को कुछ क़ानूनी अधिकार भी हासिल हुए। समय-समय पर फ़ैक्टरी मालिकों ने मज़दूरों से लिखित समझौते किये। हालाँकि उन्हें क़ानूनी तिकड़मों से निष्प्रभावी बनाने की कोशिशें मालिकान द्वारा आज भी जारी हैं। मज़दूर आन्दोलन से सीख-सबक़ लेते हुए कारख़ानेदारों ने लॉक-आउट के क़ानूनी हथियार का इस्तेमाल कर हड़तालें लम्बी खींचने की रणनीति विकसित की। अपने इस नये पैंतरे का उन्हें लाभ भी मिला, अगुआ मज़दूरों को धमकाने, काम से निकालने, लालच देने जैसे पुराने हथकण्डे भी भारी पैमाने पर इस्तेमाल किये गये। मज़दूरों की पिछडी चेतना और उनके भीतर काम करने वाली लोभ-लालच की संस्कृति ने भी मालिकों को काफ़ी मदद पहुँचाने का काम किया।

मज़दूरों की एक आबादी ऐसी भी है जो यूनियन बनाकर अपने सभी दुखों-कष्टों से मुक्ति पाने का सपना देखती है। उन्हें लगता है कि यूनियन बनते ही उन्हें सब कुछ मिल जायेगा। लेकिन आज जब वे पीछे मुड़कर देखते हैं तो उन्हें लगता है जितना संघर्ष किया था उसकी तुलना में कुछ ख़ास हासिल नहीं हुआ! ऐसे में वे हताश होते हैं और निष्क्रिय हो जाते हैं। ये मज़दूर इस सीधी-सादी बात को नहीं समझते हैं कि सिर्फ़ मज़दूर यूनियन बनाना ही काफ़ी नहीं है, उन्हें पूरे पूँजीवादी समाज को बदलने के बारे में भी सोचना होगा।

कोई भी वर्ग सचेत मज़दूर या उसका राजनीतिक प्रतिनिधि बता सकता है कि यह कोई अनहोनी घटना नहीं है। मजदूरों को संगठित करने के दौरान ऐसी कठिनाइयाँ आनी लाज़मी हैं। अपनी इन्हीं समस्याओं से जूझते हुए बरगदवाँ के मज़दूरों ने मालिकों के बढ़ते हमलों का जवाब एक ऐसे तरीक़े से दिया जो कारख़ाना संघर्षों में बहुत आम नहीं है।

वी. एन. डायर्स धागा मिल के मज़दूरों ने मैनेजमेण्ट द्वारा गाली-गलौज, मनमानी कार्यबन्दी और 5 अगुआ मज़दूरों को काम से निकाले जाने बावत दिये गये नोटिस के जवाब में 1 अगस्त सुबह 6 बजे से कारख़ाने पर क़ब्ज़ा कर लिया। रात 10 बजे तक पूरी कम्पनी पर मज़दूरों का नियन्त्रण था। रात ही से सार्वजनिक भोजनालय शुरु कर दिया गया। सुबह तक कम्पनी पर क़ब्ज़े की ख़बर पूरे गाँव में फैल गयी। कई मज़दूरों ने अपने परिवारों को फ़ैक्टरी में ही बुला लिया। महिलाओं और बच्चों के रहने के लिए फ़ैक्टरी खाते में अलग से इन्तजामात किये जाने लगे। कौतूहलवश गाँव की महिलाएँ भी फ़ैक्टरी देखने के लिए उमड़ पड़ीं। मज़दूरों ने उन्हें टोलियों में बाँटकर फ़ैक्टरी दिखायी और धागा उत्पादन की पूरी प्रक्रिया से वाक़िफ़ कराया। फ़ैक्टरी के भीतर और बाहर हर जगह मज़दूर और आम लोगों का ताँता लगा हुआ था। विशालकाय मशीनों और काम की जटिलता से आश्चर्यचकित ग्रामीण एक ही बात कह रहे थे 'हे भगवान! तुम लोग इतनी बड़ी-बड़ी मशीनें चलाते हो और पगार धेला भर पाते हो!!'

मालिकान आदतन झुकने को तैयार नहीं थे। उन्होंने वर्दीधारियों की मदद से मज़दूरों को बाहर खदेड़ने का प्रयास किया लेकिन मज़दूरों का गुस्सा भड़क जाने पर पुलिस वाले सर पर पाँव रखकर भाग गये। हालात बेहद तनावपूर्ण थे, मज़दूर छोटी-छोटी टोलियाँ बनाकर जगह-जगह तैनात थे। थक-हार कर मालिकों को समझौते की टेबल पर आना पड़ा और 2 अगस्त की शाम 6 बजे तक समझौता हो गया। कम्पनी मालिक ने गाली-गलौज के लिए अगुआ मज़दूरों से माफ़ी माँगी, कार्यबन्दी पर ले-आफ़ देने की घोषणा की और पाँच मज़दूरों के ख़िलाफ़ जारी निलम्बन नोटिस वापस ले लिये गये।

संघर्ष के इस रूप का सभी कारख़ाना मज़दूरों और स्थानीय ग्रामीण आबादी पर बेहद सकारात्मक प्रभाव पड़ा। पहले मालिकान किसी भी कारख़ाना हड़ताल को महीनों लम्बा खींचने लगे थे, लेकिन कम्पनी क़ब्ज़े के इस प्रयोग में मालिकों ने बहुत जल्दी घुटने टेक दिये। इसी से सीखते हुए वी.एन. डायर्स कपड़ा मिल के मज़दूरों ने एक तीन साल पुराने कामगार को निकालने और 4 अन्य को नोटिस दिये जाने के विरोध में 23 अक्टूबर की सुबह से निटिंग खाते में क़ब्ज़े की कार्रवाई को अंजाम दिया जो रात 10 बजे तक पूरी कम्पनी के क़ब्ज़े में बदल गयी। यहाँ भी 24 अक्टूबर शाम 6 बजे तक समझौता हो गया और मज़दूर को काम पर वापस लिया गया।

जागरूक और वर्ग सचेत मज़दूर जानते हैं कि आज मालिकों से लड़ने में कम्पनी पर क़ब्ज़े का हथियार काफ़ी कारगर दिख रहा है लेकिन इसकी भी कुछ सीमाएँ हैं। मज़दूरों का यह नया तरीक़ा मालिकों के लॉक-आउट हथकण्डे का विकल्प तो हो सकता है लेकिन पूँजी के चक्रव्यूह से निकलने के लिए यह तरीक़ा भी अपने आप में पर्याप्त नहीं है।

●

भारतीय पूँजीवादी जनतन्त्र का भ्रष्ट-पतित-गन्दा-नंगा चेहरा

(पेज 9 से आगे)

लेते हैं। ट्रांसपैरेंसी इण्टरनेशनल के आँकड़ों के अनुसार, भारत के ग़रीब आम लोग बुनियादी सेवाओं के लिए हर साल 900 करोड़ रुपये रिश्वत के रूप में देते हैं।

भ्रष्टाचार की महागाथा के निचोड़ के तौर पर कुछ बातें...

भ्रष्टाचार की इस महागाथा के समाहार के तौर पर यही कहा जा सकता है कि **पूरी तरह से भ्रष्टाचार- मुक्त पूँजीवाद मध्यवर्गीय मुँगेरीलाल के हसीन सपने से अधिक कुछ भी नहीं है। जहाँ वैध लूट होगी, वहाँ अवैध लूट भी होगी। काला धन सफ़ेद धन की ही जारज सन्तान होता है। जैसा कि उपन्यासकार बाल्ज़ाक़ ने कहा था, हर सम्पत्ति- साम्राज्य अपराध की ही बुनियाद पर खड़ा होता है। सामान्यतः यह अपराध सफ़ेदपोश और "क़ानून- सम्मत" होता है लेकिन इसके एक हिस्से से सफ़ेदपोशी और वैधता का आवरण उतर भी जाता है।**

पूँजीवादी जनवाद की नौटंकी का सारांश यह होता है कि सरकारें पूँजीपतियों की मैनेजिंग कमेटी होती हैं, संसद बहसबाज़ी का अड्डा होता है, नौकरशाही शासन और शोषण की नीतियाँ बनाती है और लागू करती है, जज न्याय की नौटंकी करते हुए सम्पत्ति के अधिकार की सुरक्षा करते हैं और सेना-पुलिस हर विद्रोह को कुचलने के लिए चाक-चौबन्द रहती है। इन सभी कामों में लगे हुए लोग पूँजीपतियों के वफ़ादार सेवक होते हैं और सेवा के बदले उन्हें ऊँचे वेतन-भत्तों और विशेषाधिकारों का मेवा मिलता है। जो भी इस जमात में शामिल होता है, उसे यह समझते देर नहीं लगती कि वह लुटेरों का सेवक है। लुटेरों के सेवकों से नैतिकता और सदाचार की उम्मीद क़तई नहीं की जा सकती। शोषित-उत्पीड़ित जनों को भरमाते-ठगते-दबाते और कुचलते हुए जहाँ भी उन्हें मौक़ा मिलता है वे अपनी भी जेब गर्म करने से बाज़ नहीं आते। वे पूरे बुर्जुआ वर्ग के सेवक होते हैं, पर पूँजीपति घरानों की आपसी होड़ का लाभ उठाकर इस या उस घराने से दलाली और कमीशन की मोटी रक़म ऐंठने से भी बाज़ नहीं आते। कॉरपोरेट घरानों की यही होड़ उग्र हो जाती है तो एक-दूसरे को नुक़सान पहुँचाने और नंगा करने की कोशिश में ये ऐसी कुत्ताघसीटी मचाते हैं कि पूरी व्यवस्था नंगी हो जाती है। उग्र होते अन्तरविरोध जब शासक वर्ग और उसके प्रतिनिधियों की इच्छा और नियन्त्रण से स्वतन्त्र होकर पूरी व्यवस्था की असलियत उजागर करने लगते हैं तो फिर 'डैमेज कण्ट्रोल' की प्रक्रिया शुरू की जाती है। जाँच एजेंसियाँ छापे मारने लगती हैं, कुछ को बलि का बकरा बनाया जाता है। मीडिया कुछ आदर्शवादी अफ़सरों और चुनावी राजनीति के बाहर सक्रिय सुधारवादी (प्रायः एनजीओ-पन्थी) सामाजिक कार्यकर्ताओं को नायक बनाकर प्रस्तुत करता है। कभी शेषन, कभी खैरनार, कभी अन्ना हजारे, वी. पी. सिंह तो कभी रामदेव भ्रष्टाचार-विरोधी मुहिम का मसीहा बनकर सामने आते हैं, कुछ 'व्हिसल ब्लोअर्स' व्यवस्था के दामन पर लगी गन्दगी को धोने में लग जाते हैं। ये पूँजीवादी शोषण से मुक्ति की बात नहीं करते बल्कि भ्रष्टाचार को हर बुराई की जड़ बताते हैं। ऐसे श्रीमान सुथरा जी लोग भ्रष्टाचार-मुक्त पूँजीवाद के ही पैरोकार होते हैं और इस व्यवस्था की ही एक सुरक्षा-पंक्ति होते हैं।

भ्रष्टाचार पूँजीवादी समाज की एक सार्विक परिघटना है। जहाँ लोभ-लाभ की संस्कृति होगी वहाँ मुनाफ़ा निचोड़ने की हवस वैधिक दायरों को लाँघकर, जैसे भी हो, दोनों हाथों से लूटने की तार्किक परिणति तक पहुँच ही जायेगी। भ्रष्टाचार पश्चिम के समृद्ध देशों में भी है लेकिन उनके मुक़ाबले भारत जैसे पिछड़े पूँजीवादी देशों में इसका चरित्र ज़्यादा नंगा, फूहड़ और जनद्रोही है। कारण कि इन देशों में जनता की जनवादी चेतना के पिछड़ेपन के कारण सामाजिक चौकसी की कमी है जिसके चलते नेता-अफ़सर-दलाल अपना काम बेशर्मी व ढिठाई के साथ अंजाम देते हैं। देशी-विदेशी कॉरपोरेट घरानों के लिए रिश्वत देना भी यहाँ अधिक सुगम होता है। नेताशाही-अफ़सरशाही में शामिल मध्यवर्ग में और बुद्धिजीवियों में जनवादी मूल्य बहुत कम हैं और उत्तरऔपनिवेशिक दौर के गुज़रते दशकों के दौरान वे ज़्यादा से ज़्यादा जनविमुख होते चले गये हैं। मध्यवर्ग का जो हिस्सा राजनीति या प्रशासनिक सेवाओं में आता है, वह या तो स्वयं नेताओं-नौकरशाहों की औलाद होता है या पुराने सामन्ती कुलीनों की नयी पीढ़ी का सदस्य होता है। वह जनता की हड्डियाँ निचोड़कर रुग्ण-विलासी जीवन जीना चाहता है और पीढ़ियों तक के लिए सुख-सुविधा की गारण्टी कर लेना चाहता है। आम घरों के जो थोड़े से लोग इन क़तारों में शामिल होते हैं, वे भी अपना पक्ष बदलकर धन-सम्पत्ति जुटाने में लग जाते हैं और कभी-कभी तो इस दौड़ में पुराने कुलीनों के वारिसों को भी पीछे छोड़ देते हैं।

मौजूदा नवउदारवादी दौर में तमाम बुर्जुआ जनवादी मूल्यों-आदर्शों के छिलके पूँजीवाद के शरीर से स्वतः उतर गये हैं। सरकार खुले तौर पर पूँजीपतियों की मैनेजिंग कमेटी के रूप में कार्यरत दीख रही है। कमीशनख़ोरी, दलाली, लेनदेन – सबकुछ पूँजी के 'खुला खेल फ़रुर्ख़ाबादी' का हिस्सा मान जाने लगा है। 2010 में घपलों-घोटालों का जो घटाटोप सामने आया है, वह पूँजीवाद के असाध्य ढाँचागत आर्थिक संकट और उसके गर्भ से उपजे राजनीतिक-सांस्कृतिक-नैतिक संकट की एक अभिव्यक्ति है, परिणाम है और लक्षण है।

यह पूरा विवरण एक स्वयंसिद्ध प्रमेय है जो बताता है कि यह पूरी व्यवस्था सिर से पाँव तक सड़ चुकी है और मेहनतकश जनसमुदाय के सामने एकमात्र विकल्प यही है कि वह पूँजीवादी संसदीय जनवाद की इस अँधेरगर्दी और लूटतन्त्र को सिरे से ख़ारिज कर दे। भ्रष्टाचार के विरुद्ध लड़ाई अपनेआप में कोई स्वतन्त्र लड़ाई नहीं है। यह पूँजीवादी-व्यवस्था विरोधी संघर्ष का एक हिस्सा के रूप में ही लड़ी जानी चाहिए। यह जनता की जनवादी चेतना को उन्नत करने और उसके जनवादी अधिकार की लड़ाई का ही एक अहम मुद्दा है। हमारा काम इस व्यवस्था के दामन पर लगे दाग़ों को धोना नहीं हो सकता। "भ्रष्टाचार-मुक्त शोषण" हमारा लक्ष्य नहीं हो सकता। भ्रष्टाचार के विरुद्ध संघर्ष को राज्यसत्ता के चरित्र को उद्घाटित करने और उसके विरुद्ध व्यापक संघर्ष की एक कड़ी बनाया जाना चाहिए।

●

कश्मीर समस्या का चरित्र, इतिहास और समाधान

(पेज 13 से आगे)

होना चाहिए। इन संघर्षों का व्यवस्था-विरोधी संघर्ष के साथ मोर्चा उनके संघर्षों को भी शक्ति प्रदान करेगा और पूँजीवाद-विरोधी क्रान्तिकारी आन्दोलन को भी मज़बूत बनायेगा। इन राज्यों में जनता के आत्मनिर्णय के अधिकार के समर्थन के साथ आम जनता को साथ लेने के साथ ही, कम्युनिस्टों को राजनीतिक प्रचार भी करना चाहिए और साथ ही वहाँ के मज़दूर वर्ग को जागृत, गोलबन्द और संगठित कर भावी क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी में शामिल करना चाहिए। केवल इस रास्ते से ही हम राष्ट्रीयता के इन संघर्षों को व्यवस्था-विरोधी संघर्षों का हिस्सा बना सकते हैं और केवल इसी रास्ते से हम भविष्य में इन राज्यों की जनता के आत्मनिर्णय के अधिकार को सुनिश्चित कर सकते हैं।

पिछले 64 वर्षों का भारत का इतिहास एक बात को साफ़तौर पर दिखला देता है। राष्ट्रीयता के संघर्षों का अलग से भविष्य धीरे-धीरे धूमिल होता जा रहा है। दमित राष्ट्रीयताओं के संघर्षों को अगर सही तरीक़े से मुक़ाम तक पहुँचना है तो उन्हें पूँजीवाद-साम्राज्यवाद विरोधी क्रान्ति के संघर्ष से जुड़ना होगा। हमारे देश का ही नहीं बल्कि पूरी दुनिया का आधुनिक इतिहास इस बात को पुष्ट करता है कि ऐसे संघर्ष अब अगर हारे नहीं जायेंगे तो उनका जीता जाना भी मुश्किल होता जा रहा है। आत्मनिर्णय का अधिकार सही मायने में और न्यायपूर्ण तरीक़े से समाजवाद ही दे सकता है, पूँजीवाद नहीं।

●

बिल गेट्स और वॉरेन बुफ़े की 'गिविंग प्लेज' : लूटो-भकोसो और झूठन आम जनता के "हित" में दान कर दो

अरबपतियों को याद आयी जनता! या पूँजीवाद की डगमगाती नैया?

हाल ही में विश्व के दो सबसे अमीर व्यक्तियों – बिल गेट्स और वॉरेन बुफ़े ने अपनी-अपनी निजी सम्पत्ति का बड़ा हिस्सा धर्मार्थ कार्यों के लिए दान करने की घोषणा की और उसके बाद से वे दुनियाभर के अरबपतियों को अपनी-अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति का आधा-आधा हिस्सा देने के लिए मना रहे हैं। उन्होंने अपने अभियान का नाम रखा है 'गिविंग प्लेज' यानी 'दान करने की सौगन्ध'! नवीनतम सूचना के अनुसार वे 40 अरबपतियों को मनाने में कामयाब हो चुके हैं और इससे 6,000 लाख डॉलर की राशि ग़रीब देशों में एन.जी.ओ. और सुधारवादी संस्थाओं को मिलने की उम्मीद है। दुनियाभर का पूँजीवादी मीडिया इन धनकुबेरों के इस धर्मार्थ पर फ़िदा हो गया है। और हो भी क्यों नहीं? पूँजीवाद को दीर्घजीवी बनाने के ऐसे सभी षड्यन्त्रों को पूँजीवादी मीडिया तो प्रचारित करेगा ही। लेकिन पूँजीवादी मीडिया के इस प्रचार के कारण दुनियाभर के आम मध्यवर्ग की जनता और पढ़े-लिखे मज़दूरों के एक हिस्से में भी एक भ्रम पैदा हो रहा है। मध्यवर्ग तो इन धनपशुओं की पूजा-आराधना में ही लग गया है। वह बिल गेट्स और वॉरेन बुफ़े की चैरिटी पर अभिभूत और चमत्कृत है। उसे यह प्रतीत हो रहा है कि इन अरबपतियों ने इतना बड़ा त्याग किया है जो एक मिसाल बन गया है। लेकिन उन्हें पता नहीं है कि ऐसी चैरिटी करना पूँजीपति वर्ग के लिए कोई नयी बात नहीं है। 1890 में कार्नेगी और हेनरी फ़्रिक ने भी कुछ ऐसा ही किया था। लेकिन ये ही वे पूँजीपति थे जिन्हें मज़दूरों के न्यायपूर्ण संघर्ष के बर्बर दमन के लिए भी जाना जाता है। आज तक मज़दूरों की जायज़ माँगों के लिए किये गये आन्दोलनों का वैसा दमन कम ही लोगों ने किया है जैसा कि कार्नेगी और फ़्रिक ने किया था।

कार्ल मार्क्स ने 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' में लिखा है कि पूँजीवादी समाज में बुर्जुआ वर्ग का एक हिस्सा हमेशा धर्मार्थ और सुधार के कामों में संलग्न होता है। इससे जनता का पूँजीवाद के प्रति भ्रम बरकरार रहता है और पूँजीवाद की उम्र बढ़ती है। इससे पूँजीवादी समाज में ग़रीबी और बदहाली का उन्मूलन नहीं होता, समानता और न्याय की स्थापना नहीं होती। बल्कि शोषक और अन्यायी व्यवस्था के क़ायम रहने की ज़मीन तैयार होती है।

बिल गेट्स और वॉरेन बुफ़े का इतिहास भी कार्नेगी और फ़्रिक जैसे ज़ालिमों से कुछ ख़ास अलग नहीं है। बस शोषण और दमन के तरीक़ों में परिवर्तन आ गया है। लेकिन अभी हम उस इतिहास में नहीं जायेंगे। अभी हमारा मक़सद दो सवालों का जवाब देना है। पहला सवाल यह कि बिल गेट्स और वॉरेन बुफ़े समेत दुनिया के 40 अरबपतियों की इस चैरिटी से दुनिया में क्या परिवर्तन आने वाला है? और दूसरा सवाल, क्या वाक़ई यह आधी सम्पत्तियों का दान और परमार्थ की मिसाल है?

पहले सवाल का जवाब है नहीं! पूँजीवाद ने अपने लगभग 200 वर्ष के इतिहास में दुनिया को जो बना दिया है, उसकी मरम्मत के लिए किसी बड़ी धर्मार्थ राशि की ज़रूरत नहीं है। जब तक पूँजीवाद रहेगा, आम आदमी बरबाद रहेगा। अभी पूरे विश्व की बात छोड़ दें, सिर्फ़ भारत में ऐसी चैरिटी के ख़र्च होने के प्रभाव की बात करते हैं। अर्जुन सेनगुप्ता समिति के अनुसार भारत में 84 करोड़ लोग 20 रुपये प्रतिदिन या उससे कम की आय पर जीते हैं। अगर इन सभी बेहद ग़रीब लोगों में गेट्स और बुफ़े द्वारा जुटाये गये 6,000 लाख डॉलर को बराबर-बराबर बाँट दिया जाये, तो सभी को करीब 7.14 डॉलर मिलेंगे। इसका अर्थ हुआ लगभग 300 रुपये। यानी, उनकी प्रतिदिन की 20 रुपये की आय में साल भर के हिसाब से 1 रुपये की भी वृद्धि नहीं होगी! सिर्फ़ भारत के ही ग़रीबों को लें तो भी इस धर्मार्थ दान से उनकी ज़िन्दगी पर कोई असर नहीं पड़ने वाला। अभी हम इसमें सभी विकासशील या कम विकसित देशों की ग़रीब आबादी को नहीं जोड़ रहे हैं। अगर इन सभी को जोड़ दिया जाये तो ये 6,000 लाख डॉलर कैसे ग़ायब हो जायेंगे पता भी नहीं चलेगा। इससे दुनिया के सभी दरिद्रों के शरीर पर एक सूत का धागा भी नहीं डाला जा सकता है! पूँजीवाद ने पिछले 200 वर्षों में दुनिया के सभी देशों में मेहनतकशों का लहू निचोड़-निचोड़कर जितना मुनाफ़ा कमाया है, उसकी तुलना में ये 6,000 लाख डॉलर वैसे ही हैं जैसे कि प्रशान्त महासागर की तुलना में पानी की एक बूँद। इस चैरिटी से दुनिया के ग़रीबों का कोई भला नहीं होने वाला है! हाँ, एक काम ज़रूर होने वाला है – दुनियाभर के मध्यवर्ग और निम्न मध्यवर्ग की भारी आबादी और साथ ही सचेत मज़दूर आबादी में भी, पूँजीवादी व्यवस्था के मानवतावादी होने और उसके उत्तरजीवी होने को लेकर ज़बरदस्त भ्रम पैदा होगा। ख़ासतौर पर, पढ़े-लिखे युवाओं के बीच बिल गेट्स और वॉरेन बुफ़े जैसे लुटेरे सन्त और आदर्श बनकर उभरेंगे। छात्रों-नौजवानों के दिमाग़ में व्यवस्था द्वारा पैठाया गया यह तर्क और मज़बूत होगा कि 'पहले खुद कुछ बन जायें, तभी तो समाज के लिए कुछ करेंगे!' और वे इस समझदारी से और दूर होते जायेंगे कि ये 'कुछ' वास्तव में कुछ भी नहीं है और इससे दुनिया में कुछ भी नहीं बदलने वाला। यह जनता के मन में पूँजीपतियों और धनपतियों के प्रति पलने वाले रोष के लिए एक 'सेफ़्टी वॉल्व' का काम करेगा, जो जनता के गुस्से को थोड़ा-थोड़ा करके निकाल देगा। लोग व्यवस्था के विकल्प के बारे में सोचने की बजाय व्यवस्था के भीतर ऐसे तथाकथित मसीहाओं के अवतरित होने के बारे में सोचते और उम्मीद करते रहेंगे। कुल मिलाकर, इस चैरिटी से होना-जाना कुछ भी नहीं है। बस, समाज में पूँजीवाद के प्रति भ्रम की उम्र कुछ और बढ़ जायेगी। और पूँजीपति वर्ग कुछ-कुछ अन्तरालों पर ऐसे कुछ क़दम उठाता रहता है, इसमें कुछ भी नया नहीं है। लेकिन ऐसे सभी प्रयास अन्ततः असफल हो जाते हैं; पहले भी होते रहे हैं और बाद में भी होते रहेंगे। पहली बार ऐसी चैरिटी आस जगाती है; कोई वास्तविक प्रभाव नहीं पड़ता; दूसरी बार ऐसी चैरिटी से जगने वाली आस कम होती है; फिर कोई परिवर्तन नहीं आता; तीसरी बार ऐसी चैरिटी एक ख़बर भी नहीं रह जाती है; चौथी बार यह उबाती है; पाँचवीं बार गुस्सा दिलाती है; छठी बार नफ़रत पैदा करती है और अन्ततः यह कोई भ्रम पैदा करने की बजाय जनता को और बग़ावती बनाती है और जनता उठकर बोलती है कि हमें तुम्हारी ख़ैरात नहीं चाहिए, अपना हक़ चाहिए – यानी, पूरी दुनिया!

"सभी बेहद ग़रीब लोगों में गेट्स और बुफ़े द्वारा जुटाये गये 6,000 लाख डॉलर को बराबर-बराबर बाँट दिया जाये, तो सभी को क़रीब 7.14 डॉलर मिलेंगे। इसका अर्थ हुआ लगभग 300 रुपये। यानी, उनकी प्रतिदिन की 20 रुपये की आय में साल भर के हिसाब से 1 रुपये की भी वृद्धि नहीं होगी! इससे सिर्फ़ भारत के ही ग़रीबों की ज़िन्दगी पर कोई असर नहीं पड़ने वाला। अभी हम इसमें सभी विकासशील या कम विकसित देशों की ग़रीब आबादी को नहीं जोड़ रहे हैं। अगर इन सभी को जोड़ दिया जाये तो ये 6000 लाख डॉलर कैसे ग़ायब हो जाएँगे पता भी नहीं चलेगा। इससे दुनिया के सभी दरिद्रों के शरीर पर एक सूत का धागा भी नहीं डाला जा सकता है!"

अब दूसरे सवाल का जवाब। क्या इस चैरिटी से बिल गेट्स या वॉरेन बुफ़े (जिन्होंने वास्तव में अपनी निजी सम्पत्ति का 99 प्रतिशत देने का वायदा किया है!) जैसे दैत्यों की सेहत पर कोई ख़ास असर पड़ता है? क्या इससे उनकी दानवीरता और परमार्थता झाँकती है? इसका भी जवाब है नहीं! आइये देखें किस तरह। वॉरेन बुफ़े की सम्पत्ति का 99 प्रतिशत से ज़्यादा हिस्सा उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति से नहीं आता है। यह आता है वॉल मार्ट और गोल्डमान साक्स जैसे वित्तीय दैत्य कारपोरेशनों के शेयर से। वॉल मार्ट अमेरिका में सबसे कम मज़दूरी देने के लिए जाना जाता है और इसकी दुकानों में अमेरिकी मज़दूर लगभग न्यूनतम मज़दूरी पर काम करते हैं। वॉल मार्ट अपनी कई कपड़ा फ़ैक्टरियों को चीन ले जा चुका है या ले जा रहा है जहाँ वह चीनी मज़दूरों से 147 डॉलर प्रति माह पर काम करवा रहा है। गोल्डमान साक्स वही वित्तीय संस्था है जिसके प्रमुख ने अभी कुछ महीने पहले स्वीकार किया था कि उसकी संस्था ने लापरवाही से सबप्राइम ऋण दिये जिनके कारण विश्व वित्तीय व्यवस्था चरमरायी, संकट आया और दुनियाभर के मज़दूरों और नौजवानों का एक बड़ा हिस्सा आज सड़कों पर बेरोज़गार है या गुलामी जैसी स्थितियों में काम कर रहा है। इन कम्पनियों का मुनाफ़ा खरबों डॉलरों में है, जिसके लाभांश प्राप्तकर्ताओं में वॉरेन बुफ़े का स्थान शीर्ष पर है। ये तो सिर्फ़ दो उदाहरण हैं। ऐसे बीसियों साम्राज्यवादी कारपोरेशनों की विश्वव्यापी लूट का एक विचारणीय हिस्सा वॉरेन बुफ़े के पास जाता है। उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति उनके इस मुनाफ़े के सामने बेहद मामूली है।

बिल गेट्स की कहानी भी इससे कोई अलग नहीं है। बिल गेट्स क़ानूनी तौर पर स्वयं अपनी कम्पनी के एक कर्मचारी हैं और इसके लिए उन्हें तनख़्वाह मिलती है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार मुकेश अम्बानी अपनी ही कम्पनी के कर्मचारी हैं। मन्दी के वक़्त दुनिया के बेरोज़गारों और ग़रीबों की बद्दुआएँ और नफ़रत इनके महलों के लिए ख़तरा न बनें, इसके लिए ऐसे तमाम सी.ई.ओ. (मुख्य कार्यकारी अधिकारी) ने अपने-अपने वेतन में कटौती करके दिखलाया कि मन्दी की मार का असर झेलने को वे स्वयं को प्रस्तुत कर रहे हैं। इससे उनकी कम्पनियों से छँटनी करके निकाले गये लोगों का गुस्सा दिशाहीन हो जाता है। आख़िर मालिक ने भी तो कुछ क़ीमत चुकायी! लेकिन क्या बेवक़ूफ़ी है! क्या इस पर विश्वास किया जा सकता है? बिल गेट्स की कम्पनी पिछले एक दशक से हर वर्ष अधिक से अधिक मुनाफ़े की दर का रिकॉर्ड बना रही है। इस मुनाफ़े के आधे से अधिक के हक़दार स्वयं बिल गेट्स ही तो हैं क्योंकि कम्पनी के आधे से अधिक शेयर उन्हीं के पास हैं। माइक्रोसॉफ़्ट पूरी दुनिया के सॉफ़्टवेयर बाज़ार में एक एकाधिकारी कम्पनी है। इस कम्पनी में अपने शेयर के अलावा अन्य कई कारपोरेशनों और वित्तीय संस्थाओं में गेट्स के शेयर हैं। अगर इन सभी शेयरों को जोड़ दिया जाये तो यह किसी विकासशील देश के सकल घरेलू उत्पाद के बराबर हो जायेंगे। पूरी दुनिया में अपनी लूट के बूते यह सारी सम्पदा बटोरी जाती है। गेट्स की व्यक्तिगत सम्पत्ति का क़ानूनी तौर पर आकलन तो माइक्रोसॉफ़्ट द्वारा उनको मिलने वाले "वेतन" के आधार पर होता है और इससे गेट्स की वास्तविक सम्पत्ति की कोई तस्वीर नहीं मिलती।

इन अरबपतियों की व्यक्तिगत सम्पत्ति का इनके लिए कोई विशेष महत्त्व नहीं होता है। क्योंकि वास्तविक सम्पत्ति वित्तीय एकाधिकारी पूँजीवाद के इस दौर में शेयरों और हिस्सेदारियों में निहित होती है। इसलिए वे अपनी पूरी व्यक्तिगत सम्पत्ति भी दान कर दें तो इससे उनका परमार्थ नहीं झलकता है। यह रहस्य छिपा रहे इसीलिए 2009 में जिस बैठक में गेट्स और बुफ़े ने इस चैरिटी का प्रस्ताव रखा, उसे पूरी तरह से गुप्त रखा गया। साफ़ है, ये वे अरबपति हैं जो विश्व पूँजीवाद के शीर्ष पर बैठे कारपोरेशनों के मालिक हैं और दुनिया की दुर्गति के लिए वे ही ज़िम्मेदार हैं। यह दुर्गति उन्होंने अनजाने में नहीं की है कि ईसा मसीह की तरह बोला जा सके, 'हे पिता! इन्हें माफ़ करना, ये नहीं जानते ये क्या कर रहे हैं।' ये लुटेरे अच्छी तरह से जानते हैं कि इस दुनिया के मेहनतकश अवाम के साथ वे क्या करते रहे हैं और अब अगर उनके दिल में चैरिटी माता प्रकट हो गयी हैं तो भी समझा जा सकता है कि ऐसा क्यों है। मार्क्स के उपरोक्त कथन में ही सारी सच्चाई निहित है। पूँजीवाद को ऐसे अमीर फ़िलैंथ्रोपिस्ट (मानवसेवियों) की हमेशा से ही ज़रूरत रही है; उसने हमेशा उन्हें पैदा किया है और आगे भी करता रहेगा। इससे पूँजीवादी शोषण की इस दुनिया की आन्तरिक संरचना में कोई फ़र्क़ नहीं आने वाला है। उल्टे इस पूरे अन्यायपूर्ण ढाँचे के बारे में आम मेहनतकश जनता के बीच भ्रम पैदा होता है और इसकी उम्र बढ़ती है। हमें ऐसी नौटंकियों की असलियत को समझने की ज़रूरत है।

● शिशिर

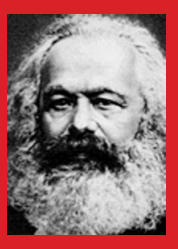

पूँजीवादी समाज में बुर्जुआ वर्ग का एक हिस्सा हमेशा धर्मार्थ और सुधार के कामों में संलग्न होता है। इससे जनता का पूँजीवाद के प्रति भ्रम बरकरार रहता है और पूँजीवाद की उम्र बढ़ती है। इससे पूँजीवादी समाज में ग़रीबी और बदहाली का उन्मूलन नहीं होता, समानता और न्याय की स्थापना नहीं होती। बल्कि शोषक और अन्यायी व्यवस्था के कायम रहने की ज़मीन तैयार होती है।

कार्ल मार्क्स (कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो)

एलाइड निप्पोन की घटना

एक बार फिर फ़ैक्टरी कारख़ानों में मज़दूरों का घुटता आक्रोश सतह पर आया

प्रबन्धन की गुण्डागर्दी की अनदेखी कर मज़दूरों पर एकतरफ़ा पुलिसिया कार्रवाई

बिगुल संवाददाता

साहिबाबाद। विगत 13 नवम्बर को साहिबाबाद औद्योगिक क्षेत्र साइट-4 के भूखण्ड संख्या ए-12 पर स्थित एलाइड निप्पोन लिमिटेड के फ़ैक्टरी परिसर में मैनेजमेण्ट के गुण्डों ने या यूँ कहें कि मैनेजमेण्ट रूपी गुण्डों ने मज़दूरों पर फ़ायरिंग की। बार-बार की तरह मज़दूरों को डराने-धमकाने की इस क्रिया ने इस बार फिर ग्रेज़ियानो की घटना को दोहराने का काम किया। इस आपसी झड़प ने अन्ततः ख़ूनी संघर्ष का रूप अख़्तियार कर लिया जिसमें 6 मज़दूर भी घायल हुए, जिनमें से 2 की हालत बेहद गम्भीर थी। वहीं कम्पनी का मैनेजर भी चोट का शिकार हुआ और बाद में उसकी मौत हो गयी। पुलिसिया विभाग ने एकतरफ़ा कार्रवाई करते हुए 8 गिरफ़्तार मज़दूरों समेत 377 के ख़िलाफ़ एफ़.आई.आर. दर्ज कर लिया।

साहिबाबाद फ़ैक्टरी की यह घटना कोई मामूली घटना नहीं है। यह आज के दौर में मज़दूरों के हालात को बताने वाली एक और प्रातिनिधिक घटना है। पिछले एक दशक में देखें तो मज़दूरों का शोषण, दमन-उत्पीड़न लगातार बढ़ता जा रहा है। वो चाहे गुड़गाँव, लुधियाना, या ग्रेज़ियानो की घटना हो या फिर एलाइड निप्पोन की घटना। इस घटना ने भी देश के कारख़ानों में मरते-खपते मज़दूरों की असुरक्षा और घुटन को सामने लाने का काम किया है। यह घटना व्यापक मज़दूर आबादी में सुलगते आक्रोश को तो सामने लायी ही है, पूरे प्रशासनिक तन्त्र, पुलिस मशीनरी और दलाल ट्रेड यूनियनों के असली चेहरे को भी एक बार फिर उघाड़कर नंगा करने का काम भी किया है। यही नहीं एक बार यह फिर साबित हुआ कि तमाम बुर्जुआ मशीनरी एवं उसके नियम-क़ायदे असल में पूँजीपतियों और उनके लग्गू-भग्गू तबक़े की सेवा के लिए हैं। इस घटना ने पूँजीवादी मीडिया के छल-छद्म को भी उजागर करने का काम किया है। उसके घनघोर मज़दूर-विरोधी चरित्र की बानगी एक बार फिर लोगों को देखने को मिली। और यह तथ्य भी एक बार फिर सामने आ गया कि निष्पक्षता और स्वतन्त्रता के भारी-भरकम दावे के बावजूद ये असल में शासक वर्गों के भोंपू ही हैं।

13 नवम्बर की घटना और इसकी पृष्ठभूमि

एलाइड निप्पोन लि. कम्पनी की स्थापना 1983 में हुई थी। कम्पनी के मालिक का नाम रवि तलवार है। इसमें उत्पादन कार्य 1984 से शुरू हुआ। यहाँ मुख्यतः अलग-अलग क़िस्म के वाहनों के ब्रेक शू बनाये जाते हैं। साहिबाबाद की यूनिट का निर्यात क़ानून के तहत रजिस्ट्रेशन है। यह भारतीय रेलवे को भी माल सप्लाई करती है। कम्पनी का काम मानेसर, गुड़गाँव व हिमाचल प्रदेश के संयन्त्रों में भी होता है। लेकिन मुख्य उत्पादन कार्य साहिबाबाद स्थित फ़ैक्टरी में किया जाता है। कम्पनी में मौजूदा समय में क़रीब 1,200 मज़दूर काम करते हैं। जिसमें लगभग 400 मज़दूर स्थायी हैं जबकि 800 मज़दूर कैजुअल/ठेका पर काम करने वाले हैं। इन 800 मज़दूरों में से बहुत सारे 7-8 साल से काम कर रहे हैं जिन्हें अभी तक स्थायी नहीं किया गया है। 12-12 घण्टे काम करने के बावजूद बुनियादी हक़ भी पूरे नहीं मिलते। सच्चाई तो यह है कि इस फ़ैक्टरी में शुरू से ही श्रम-क़ानूनों की धज्जियाँ उड़ायी जाती रही हैं। क़ानूनन अगर कोई मज़दूर किसी प्रतिष्ठान में 240 दिन काम कर चुका है तो वह पक्की नौकरी का हक़दार होता है। जबकि यहाँ पर तो कैजुअल/ठेके में 4 से लेकर 8 साल तक से काम कर रहे मज़दूर हैं। ऐसे तमाम मज़दूर भी हैं जो उत्पादन की स्थायी प्रकृति के कामों में कई साल से लगे हैं। उनको कैजुअल वर्कर के तौर पर न रखा जाना भी श्रम क़ानूनों का उल्लंघन है।

ऐसे हालात में यहाँ के मज़दूरों ने अपने-आप को नवम्बर 2006 में यूनियन के तहत गोलबन्द किया। इसके पहले वे अपनी समस्याएँ कम्पनी द्वारा बनायी गयी बॉक्स कमेटी (जिसमें वर्कर, स्टाफ़ व प्रबन्धन के लोग हुआ करते थे) के पास ले जाते थे। इस कमेटी का कोई व्यावहारिक मतलब नहीं था। इसमें कम्पनी प्रबन्धन की बात ही चलती थी। यूनियन बनने के बाद कुछ हद तक श्रम क़ानून लागू होने की प्रक्रिया शुरू हुई। यूनियन की मुख्य माँग थी कि मज़दूरों को नियमानुसार स्थायी किया जाये और पूरे हक़-अधिकार दिये जायें। इन सवालों को लेकर वे एक-दो बार संघर्ष में भी उतरे जिसमें अन्ततः मालिकान ने मज़दूरों को उनके हक़ देने का वायदा भी किया। यूनियन व प्रबन्धन के बीच दो समझौते भी हुए। जिसके मुताबिक़ 30-35 वर्करों को हर साल नियमित किया जायेगा। लेकिन इस समझौते को एक बार लागू करने के बाद कभी भी ठीक से लागू नहीं किया गया। जबकि मन्दी का बहाना बनाकर 70-80 मज़दूरों को बाहर का रास्ता ज़रूर दिखा दिया गया। ये वे मज़दूर थे जिन्हें स्थायी किया जाना चाहिए था। जबकि असलियत यह है कि इसी मन्दी के दौर में कम्पनी में ख़ूब ओवर-टाइम करवाया गया जिसके लिए उन्होंने स्थायी श्रमिकों के बजाय ठेका श्रमिकों का जमकर इस्तेमाल किया। एक प्रकार से फ़ैक्टरी में काम कर रहे मज़दूरों के ख़िलाफ़ ऐसा माहौल बनाया जाने लगा कि वे चुपचाप बिना चूँ-चाँ किये काम करते रहें तो ठीक, नहीं तो ख़ैर नहीं। किसी की भी नौकरी छिन सकती है। भले ही उसने कितने साल से फ़ैक्टरी में अपनी हड्डी गलायी हो। इन सारी चीज़ों में मालिकान को जो बात ज़्यादा खटकती थी, वह थी फ़ैक्टरी में मौजूद यूनियन। मज़दूरों की माँग को उठाने

साहिबाबाद स्थित इस फैक्टरी हुई थी मज़दूरों-प्रबन्धन के बीच झड़प

वाली एकजुट ताक़त। मज़दूरों की एकजुटता मालिकान की आँखों की किरकिरी बनी हुई थी, जिसको हर हाल में तोड़ने की कोशिश में वह लगा हुआ था। लगभग तीन महीने पहले कम्पनी ने पुराने प्रबन्धन को हटाकर एक नया फ़र्जी प्रबन्धन ला खड़ा किया जिसका एक सूत्रीय मक़सद था यूनियन को तोड़ने के तरीक़े ईजाद करना। इस टीम के कई अधिकारियों की पृष्ठभूमि आपराधिक रही है। फ़ैक्टरी परिसर में ये जब घूमते थे तो अपने साथ असलहाधारी गुर्गे भी रखते थे। नये प्रबन्धन की कार्यशैली हर तरीक़े से मज़दूरों को निगाह में रखने की थी। यहाँ तक कि यह प्रबन्धन सुपरवाइज़र का भी काम करने लगा। अगर किसी मज़दूर को छुट्टी चाहिए तो उसे इनके पास जाना पड़ता था। एक घटना में, दीवाली के दो दिन पहले रात के वक़्त ब्रेक टाइम में आराम कर रहे मज़दूरों का फ़ोटो खींचकर यह साबित करने की कोशिश करने लगे कि देखो ये कामचोरी कर रहें हैं, काम के वक़्त सोते हैं। और सुपरवाइज़र पर दवाब डाला कि इनके ख़िलाफ़ रिपोर्ट बनाओ जबकि उसने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। इस प्रकार के तमाम हथकण्डों से मज़दूरों को परेशान किया जाने लगा। दिनोदिन मज़दूरों की हालत और भी ख़राब होती गयी। बात-बात पर बहाना बना कर मज़दूरों को डराने-धमकाने का सिलसिला बढ़ने लगा।

पिछले तीन महीने से प्रबन्धन और एलाइड लिमिटेड एण्ड इओयू इम्प्लाइज़ यूनियन के बीच हुए करार को लागू करने को लेकर तकरार चल ही रही थी। लेकिन कम्पनी प्रबन्धन की बदज़ुबानी का आलम यह था कि वह मज़दूर यूनियन से हुए समझौते जैसे कैजुअल/ठेका मज़दूरों का स्थायीकरण, बोनस और वेतन बढ़ोत्तरी आदि चीज़ों को लागू करता इसके बजाय उसने मज़दूरों पर ही दबाव बनाना शुरू कर दिया। सितम्बर 2010 में प्रबन्धन ने आठ मज़दूरों को फिर निकाल दिया जो विगत 7-8 साल से काम कर रहे थे। यूनियन ने इस मनमानी का विरोध किया और श्रम-विभाग में शिकायत दर्ज करवायी। इसके परिणामस्वरूप श्रम-विभाग में यूनियन और प्रबन्धन के बीच वार्ता हुई और प्रबन्धन ने निकाले गये मज़दूरों को वापस लेने की हामी भी भरी। लेकिन उसे लागू नहीं किया। बार-बार टालते रहे। नतीजतन यूनियन ने 16, 17, 18 नवम्बर 2010 को तीन दिवसीय हड़ताल पर जाने का निर्णय लिया। लेकिन उपश्रमायुक्त डी.पी. सिंह ने 12 नवम्बर को अण्डर रूल-4 लगाते हुए हड़ताल पर रोक लगा दी। कम्पनी प्रबन्धन और यूनियन दोनों को यथास्थिति बनाये रखने को कहा। दोनों को 15 नवम्बर 2010 को वार्ता के लिए बुलाया। यूनियन ने बात को मानते हुए घोषित हड़ताल स्थगित कर दिया। और वार्ता के लिए तैयार हो गयी। लेकिन मालिकान एक बार फिर अपनी करतूत दिखाने लगे। श्रमिकों के मुताबिक़ 13 नवम्बर 2010 को जब श्रमिक काम पर आये तो उन्होंने देखा कि सूचना पट्ट पर आज फिर एक नोटिस चिपकी है। पता चला कि कुछ श्रमिकों को बहुत मनमाने ढंग से बेवजह दूसरे उत्पादन विभाग में शिफ़्ट कर दिया गया है। जब श्रमिकों ने इसका कारण पूछा तो सुपरवाइज़र ने साफ़ कहा कि यह निर्णय ऊपर से (फ़र्जी प्रबन्धन से) आया है। उसने तत्काल मज़दूरों द्वारा कारण जानने की इच्छा की ख़बर प्रबन्धन को दी। वे मानो इसी पल का इन्तज़ार कर रहे थे। बात सुनते ही हर बार की तरह अपने लाव-लश्कर के साथ दनदनाते हुए मज़दूरों के पास पहुँचे। पहले की तरह बदतमीजी करते हुए कहने लगे कि हम जो चाहेंगे वो करेंगे। देखा! हमने हड़ताल रुकवा दी। और तुम लोगों को वही करना पड़ेगा जो हम चाहेंगे। अपनी ताक़त का प्रदर्शन करते हुए मज़दूरों को डराने-धमकाने का काम जारी रखा। इस पर मज़दूरों ने सख़्त ऐतराज़ किया। इस पर फ़र्जी प्रबन्धन गुण्डई दिखाते हुए तमंचे से फ़ायरिंग करने लगा। जिसमें 6 मज़दूर घायल हुए, जिनमें अमित और ब्रजेश नाम के दो मज़दूर गम्भीर रूप से घायल हुए थे। उस यूनिट में क़रीब 150 श्रमिक काम कर रहे थे। मज़दूरों की भीड़ बढ़ते देखकर वे फ़ायरिंग करते हुए बाहर आने लगे। इतने में गोली की आवाज़ सुनकर दूसरी यूनिट के मज़दूर वहाँ पहुँचने लगे। मज़दूरों और प्रबन्धन के बीच इस झड़प में मज़दूरों के साथ प्रबन्धन के कुछ लोगों को भी चोटें आयीं। जिसके चलते बाद में कम्पनी के एचआर विभाग के एजीएम योगेन्द्र चौधरी की मृत्यु हो गयी।

पुलिस-प्रशासन की तत्परता!

इस घटना के तुरन्त बाद पुलिस हरक़त में आ गयी। उसने अपनी पक्षधरता एक बार फिर साबित करते हुए मज़दूरों के ख़िलाफ़ झट से एफ़.आई.आर. दर्ज कर ली। पूरे साहिबाबाद साइट-4 के इलाक़े में तथा मज़दूरों के घरों पर दबिश देनी शुरू कर दी गयी। औरतों और बच्चों को भी परेशान किया गया। इस प्रक्रिया में मज़दूरों व यूनियन नेताओं समेत 27 लोगों को नामजद किया गया और 350 अज्ञात लोगों के ख़िलाफ़ रिपोर्ट दर्ज की गयी। मालिकों की तरफ़ से दर्ज की गयी रिपोर्ट में लिखा था कि लगभग 377 लोग कम्पनी दफ़्तर में घुस आये, सभी अपने हाथों में तलवार, सरिया, लोहे की रॉड, डण्डे आदि लिये थे। उन्होंने आते ही तोड़-फोड़ शुरू कर दी। तथा सभी अधिकारियों को जान से मारने की नीयत से मारना-पीटना शुरू कर दिया। पुलिस ने एफ़.आई.आर. की स्पेशल रिपोर्ट मु.अ.स. 405/10 धारा 147/148/149/302/307/427/120 बी आई.पी.सी. व 7 कि. ला. अमेण्डमेण्ट एक्ट के तहत दर्ज की। पुलिस की न्यायिक सक्रियता का अन्दाज़ा इसी से लगाया जा सकता है कि जहाँ एक तरफ़ उन्होंने मालिकों की तरफ़ से मज़दूरों के ख़िलाफ़ रिपोर्ट तो दर्ज कर ली। लेकिन यह जानने की कोशिश नहीं कि आख़िर प्रबन्धन के गुर्गे हथियार लेकर फ़ैक्टरी परिसर में कैसे घुसे। जबकि पुलिस की खुफ़िया रिपोर्ट भी बताती है कि परिसर में गोली चली थी जिसका शिकार मज़दूर हुए हैं। ऐसे में पुलिस विभाग ने बिना इस बात की जाँच किये कि असल दोषी कौन है मज़दूरों को दोषी मानकर एकतरफ़ा

(पेज 2 पर जारी)

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजयगांधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक : सुखविन्दर ● सम्पादकीय पता : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006